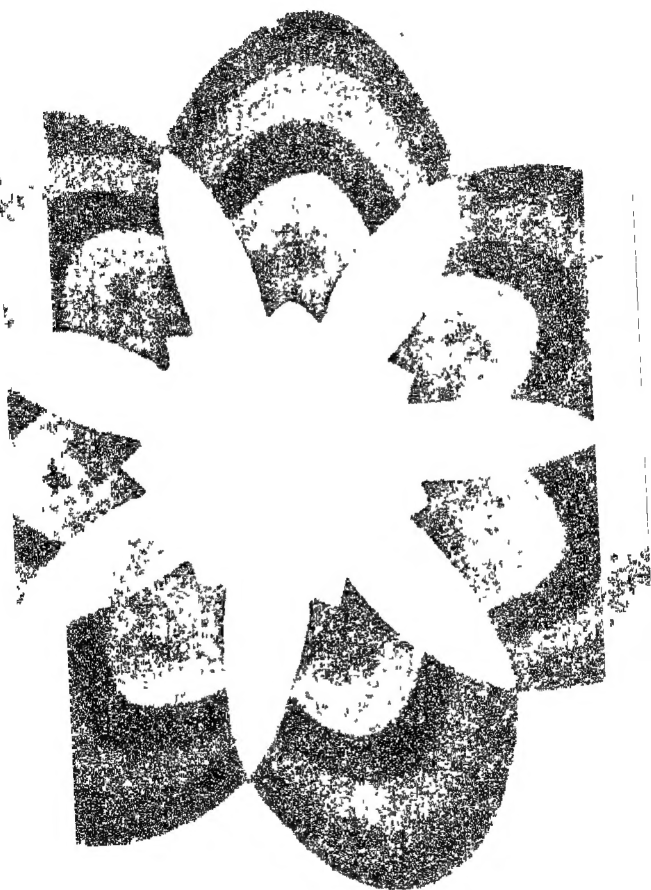
चेतना की दिश



डॉ. राजेश्वर प्रसाद कौशि



किताब

गांधी नगर दि

नई चेतना की दिशा

डॉ॰ राजेश्वर प्रसाद कौशिक

अनुवादक

कृष्णदत्त भट्ट

मूल्य : पच्चीस रुपये / प्रथम संस्करण : 1984 / आवरण शिल्प : सुभाष मदान
प्रकाशक : किताबघर, मेन रोड, गांधीनगर, दिल्ली-110031
मुद्रक : संजीव प्रिंटर्स, X/2233, महिला कालोनी, गांधीनगर, दिल्ली-110031

NAI CHETNA KI DISHA by Dr. Rajeshwer Prasad Kaushi
Price Rs. 25.0

प्राक्कथन

यह पुस्तक किसी सुविचारित, तर्क-दृष्टि से सुसम्बद्ध किसी विचार पद्धति या तत्त्वज्ञान की उपज नहीं है। यह तो क्षण-क्षण की प्रत्यक्षानुभूति अथवा साक्षात्कार की उत्पत्ति है। अतः यह पाठक को कुछ सिखाने अथवा उसे कुछ सलाह देने के रूप में नही है, क्योंकि उस रूप में होने पर इसका कोई विशेष अर्थ न होगा— अथवा उसका ऐसा अर्थ निकलेगा जो इसके मूल उद्देश्य से सर्वथा भिन्न होगा। इसे ऐसा स्पष्ट चिन्तन माना जा सकता है जो केवल तभी सुन पड़ेगा जब कान और हृदय खुले हों और बुद्धि शांत हो। यह लेखन जिस प्रकार का है, उसे साहित्यिक दृष्टि से स्वीकार किया जायेगा, ऐसी भी सम्भावना कम है। इसमें जहां-तहां पुनरुक्तियां हैं, जो अनावश्यक या फालतू-सी लग सकती हैं, परन्तु विचार पर बल देने के लिए ऐसी शैली बनी रहने दी गयी है। कुछ शब्द ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। अध्यायों का कालक्रम के अनुसार जो क्रम था वह इस पुस्तक में इसलिए बदला है कि जिससे विचारों की अविच्छिन्नता और एकरूपता आदि से आज तक बनी रहे। परन्तु लेखक ने प्रत्येक अध्याय को अपने में पूर्ण बनाये रखने की भावना रखी है।

किसी पाठक को हमारा दृष्टिकोण श्री जे० कृष्णमूर्ति के अत्यन्त निकट का लग सकता है, किसी पाठक को ऐसा लग सकता है कि यह पतंजलि के योगसूत्रों का अनुवाद है। पर यह ऐसा कुछ नहीं है। जब मनुष्य को सत्य का दर्शन होता है तो यह अनुभूति समग्र होती है। वह न यह होती है न वह। जहां ठीक लगा है, वहां पर अध्यायों के अन्त में योगसूत्र दे दिये गये हैं। वे लेखक के समर्थन में अधिकृत प्रमाण के रूप में उपस्थित नही किये गये हैं, अपितु इसलिए दिये गये हैं कि जब किसी को प्रत्यक्षानुभूति होती है तो उसे प्रत्यक्ष विरोधों के पीछे भी समन्वय की झांकी दीख पड़ती है। साक्षात्कार सदैव नवीन होता है। वह सदैव वर्तमान काल में होता है। परम्परा, रुचि तो पुरातन है— परन्तु यदि उसकी क्रोड में उसके अन्तस्तल में सत्य पारबद्ध न होता, तो वह परम्परा स्थापित ही न होती, बनती ही नहीं। मानवीय मस्तिष्क मनोवैज्ञानिक सुरक्षा के लिए इस सत्य को पकड़ता है और उसे संगठित करता है। तब वह निष्क्रिय जड़ हो जाता है और पत्थर बन बैठता है। यह तो केवल प्रत्यक्षानुभूति या साक्षात्कार की ही अव्याख्येय शक्ति है कि वह इस सत्य को मुक्त तथा स्वतंत्र करती है और परम्परा के मार्ग में आने वाले गड्ढों से बचाती हुई मनुष्य को आगे बढ़ाती है।

इस पुस्तक को पढते समय पाठक को हमारी सलाह है कि वह कोई निष्कष न निकाले निष्कष निकालना सबसे सरल बात है पर यदि पाठक मे समझ है तो वह शब्दो के पीछे की भावना को समझ जायेगा। यह समझ बुद्धि से नही आती यह कवल तब आती है जब हृदय खुला होता है और पूण मनोयोग से इसे समझने का प्रयत्न किया जाता है।

जिन लोगों के पास धैर्यपूर्वक इसे पढ़ने का समय नहीं है उनके लिए इसका सारांश इस प्रकार किया जा सकता है।

"देखो और सुनो, पर विश्वास मत करो। तुम जिस बात को समझते नहीं, उसे दोहराओ मत। अपने प्रति ईमानदार बनो। यदि तुम्हारे हृदय में यह ईमानदारी और सादगी होगी तो सत्य स्वयं आकर तुम्हारा दरवाजा खटखटायेगा।"

—राजेश्वर प्रसाद कौशिक

प्रकाशकीय

"टुवर्ड्‌स ए न्यू कांशसनैस" डाक्टर आर० पी० कौशिक द्वारा लिखी पहली पुस्तक है, जिसे वे अत्यन्त मौलिक और बोधगम्य रचना मानते थे। वे प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए आजीवन बल देते रहे। वह यह महसूस करते थे कि प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसकी तुलना में लिखित शब्द या ग्रन्थ अत्यन्त घटिया विकल्प होते हैं।

परन्तु अब जब हाल में उनका देहान्त हो गया है, अब उनसे प्रत्यक्ष मिलकर सम्पर्क करना असम्भव हो गया है। अब हम डाक्टर कौशिक के लिखित शब्द द्वारा ही उनके विचार और बोधशक्ति का यथासम्भव अधिकतम प्रसार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम आशा करते हैं कि जो हिन्दीभाषी लोग उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क का लाभ नहीं उठा सके वे उनके इस अक्षर शरीर से लाभ उठा सकेंगे। इस उद्देश्य के साथ हम "टुवर्ड्‌स ए न्यू कांशसनैस" का यह हिन्दी अनुवाद नम्रतापूर्वक उनके समक्ष उपस्थित कर रहे हैं।

क्रम

एक नवीन चेतना की खोज

किसी नवीन वस्तु को खोजने, उस पर दृष्टिपात करने, उसका आविष्कार करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पूरे मनोयोग से, सम्पूर्ण एकाग्रता से उस पर अपना ध्यान लगायें। जो चित्त नाना प्रकार के अशान्त और क्षोभकर विचारों, भयों, चिन्ताओं और पूर्वाग्रहों से भरा पड़ा है, वह किसी भी वस्तु के अर्थ और महत्त्व को समझने, उसका निरीक्षण करने में असमर्थ रहता है। ऐसा चित्त केवल वही देखेगा जो देखना चाहेगा और वही सुनेगा जो सुनना चाहेगा। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि ऐसा चित्त किसी भी वस्तु की ओर वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने मे असमर्थ रहता है। वह जो कुछ देखता है वह उसका अपना ही प्रक्षेपण मात्र होता है। प्रत्येक मानव चित्त लाखों वर्षों के अपने पुराने इतिहास और अपनी पुरातन पृष्ठभूमि से बुरी भांति परिबद्ध रहता है। अतः किसी वस्तु या तत्त्व का 'दर्शन' करने के लिए उस पर विधिवत् दृष्टिपात करने के लिए यह आवश्यक है कि परिबद्धता पूर्णरूपेण समाप्त कर दी जाये।

इस परिबद्धता की समाप्ति की खोज में ध्यान-साधना की कई पद्धतियां निकल आई हैं। ध्यान की किसी भी पद्धति में इन दो प्रश्नों का समाधान अपेक्षित है :

1. मानव चित्त के लिए क्या यह सम्भव है कि वह अपनी परिबद्धता से ऊपर उठ सकेगा—अर्थात् वह अपनी नाना प्रकार की आशाओं, आकांक्षाओं, भयों और पूर्वाग्रहों से मुक्त हो सकेगा ?

2. अपनी परिबद्धता से ऊपर उठने वाले चित्त के लिए क्या यह सम्भव है कि वह फिर किसी नई परिबद्धता से भी मुक्त बना रहेगा ?

अनेक ध्यान-पद्धतियां पहले प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देती हैं। प्राचीन परिबद्धता के स्थान पर एक नई परिबद्धता खड़ी करने का उनका लक्ष्य रहता है। पर अधिकांश ध्यान-पद्धतियां दूसरे प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ रहती हैं। दूसरा प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और जब तक उसका सही-सही उत्तर नहीं दिया जायेगा तब तक मानवीय समस्या का समुचित समाधान नहीं निकल सकता। प्रत्येक परिबद्धता, फिर वह चाहे जितनी संतोषजनक हो और चाहे जितनी नवीन हो, आगे चलकर कालान्तर में पुरानी पड़ जायेगी और तब वह भी मानव चित्त के समक्ष पहले जैसी ही समस्याएं खड़ी कर देगी।

जीवन सतत् है और प्रवाहमय है उसकी गतिविधि सतत् नई

नई चुनौतियां प्रस्तुत करती रहती है। चित्त जब तक सभी प्रकार की परिबद्धताओं से पूर्णतः मुक्त नहीं होगा तब तक वह इन चुनौतियों का सामना करने में अपने को असमर्थ पायेगा और तब वह अनिवार्यतः संघर्ष और शोक का पात्र बनेगा। इन दो कसौटियों पर खरा उतरने के लिए ध्यान की पद्धति ऐसी होनी आवश्यक है जो मानव चित्त को ऐसी स्थिति में ले जाये जहां वह केवल पूर्वाग्रहों, भयों और संघर्षों से तो मुक्त रहे ही, उसके साथ-साथ अत्यन्त सक्रिय, शक्तिशाली और संवेदनशील भी बना रहे।

अधिकांश ध्यान-पद्धतियां इन उत्तेजनाओं और भयों के उदात्तीकरण के लिए कितनी ही प्रक्रियाओं, विश्वासों और तत्त्वज्ञान पर बल देती हैं। परन्तु इन्हीं प्रक्रियाओ के अनुष्ठान में चित्त अपनी सारी शक्ति और संवेदनशीलता खो बैठता है।

अब प्रश्न है कि इस प्रकार की मानसिकता चित्त के भीतर कैसे विकसित हो? जब कभी किसी नई समस्या में हमारी रुचि होती है, तब हम उस पर एकाग्रता और गम्भीरता से विचार कर सकते हैं। यही एकाग्रता और गम्भीरता ऐसी तीव्रता उत्पन्न करती है—एक ऐसी शक्ति उत्पन्न करती है—जो चित्त को शान्त कर देती है और अन्य आकांक्षाओं को निकाल बाहर कर देती है। अपनी प्रयोगशाला में व्यस्त वैज्ञानिक के चित्त की सम्भवतः यही स्थिति होती है। निरीक्षण तथा प्रत्यक्ष ज्ञान का यह गुण तकनीकी क्षेत्र में प्राप्त करना अधिक सरल हो सकता है। पर यदि हम अपनी निजी चेतना—अपने विश्वासों, विचारों, भयों और लालसाओ की ओर वैसी ही एकाग्रता से दृष्टिपात कर सकें तो समस्या का समाधान हो जाएगा।

हमारा जो परिचित दैनन्दिन लौकिक अस्तित्व है उसके अतिरिक्त सत्य अथवा ईश्वर जैसी भी कोई वस्तु है क्या? यदि हम इस बात की खोज करना चाहें, इसका पता लगाना चाहें तो उसके लिए उसी प्रकार के शान्त और सबल चित्त की सबसे पहली पूर्ण आवश्यकता है।

ध्यान-सम्बन्धी अनेक प्राचीन पद्धतियां हैं और आये दिन हम सुनते हैं कि कोई व्यक्ति इस आश्वासन के साथ एक नये प्रकार की ध्यान-पद्धतियां लाकर उपस्थित करता है कि हमारी इस पद्धति द्वारा हमारे अनुयायियों को अत्यन्त शीघ्र परमानन्द और सुख की निश्चय ही प्राप्ति हो जायेगी। ऐसी प्रत्येक नवीन पद्धति इस बात का दावा करती है कि हमारी ही पद्धति एकमात्र प्रामाणिक है तथा अन्य पद्धतियां यदि सर्वथा भ्रामक और खोटी नही हैं तो आज के युग के लिए अपर्याप्त और सर्वथा अनुपयुक्त तो हैं ही।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आज विश्व ऐसे नैतिक और सामाजिक संघर्ष के बीच से होकर गुजर रहा है जैसा आज से पहले कभी नहीं था। आधुनिक मानव स्पष्ट रूप से अव्यवहार्य-अप्रचलित पुराने मूल्यों को अस्वीकार कर बैठा है परन्तु वह नया लंगर खोज पाने में अभी तक असमर्थ रहा है, और वह सतत् परिवर्तनशील और जटिल आधुनिक जीवन की कठोर चुनौतियों का सामना करने में अपने को असमर्थ पा रहा है। तकनीकी क्षेत्र में अधिकतम प्रगति होने के बावजूद मानव उस बढ़ती हुई निराशा का सामना नहीं

कर पा रहा है जो हाल में ही अत्यन्त तीव्रगति से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण उत्पन्न हुई है। इधर तो भौतिक समृद्धि बढ़ती चल रही है, जीवन के नये-नये तथ्यों का आविष्कार हो रहा है, बाह्य प्रकृति पर मानव का उत्तरोत्तर अधिकाधिक आधिपत्य हो रहा है, उधर इसी के साथ-साथ मानव आत्मविनाश के सर्वनाशी साधनों का अम्बार लगाता चल रहा है। मानव के भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक अस्तित्व के लुप्त होने का संकट लगातार बढ़ रहा है। यह जटिलता मानवीय व्यक्तित्व को विखण्डन की दिशा में ले जा रही है और उसके चलते उन्माद, मनोविकृति, आत्महत्या, अपराध और हिंसा की घटनाएं दिन-दिन बढ़ती चल रही हैं।

ऊपर से सम्पन्न और समृद्ध दिखने वाले आधुनिक जीवन में असुरक्षा और निराशा की जो अन्तर्निहित भावना सतत् विराजमान है, उसमें आज के हताश मानव को एक नवीन विश्वास, एक नवीन आशा और सम्भवतः एक नवीन जीवन-पद्धति की तीव्र आवश्यकता है जो मानव के दैनन्दिन जीवन की समस्याओं के निराकरण में उसकी सहायता कर सके और उसे ऐसी शक्ति प्रदान कर सके जिसके सहारे वह आज के जटिल आधुनिक जीवन की गम्भीर चुनौतियों का डटकर सामना कर सके। ऐसी परिस्थितियों में फंसे होने के कारण सामान्य मानव सहज ही ऐसे किसी भी व्यक्ति पर विश्वास करने को और उसका अनुगमन करने को उत्सुक रहता है जो उसे इस बात का आश्वासन दे कि मेरे पास चमत्कारी रामबाण और शीघ्र लाभकारी औषध है। यथार्थतः यही कारण है कि बाजारूपन में दक्ष, सम्मोहक व्यक्तित्व वाला कोई भी व्यक्ति व्यापक प्रचार, धुआंधार विज्ञापन तथा प्रचारकों की लम्बी सेना की सहायता के बल पर अपने अनुयायियों की भारी भीड़ जुटा लेता है। परन्तु जैसा कि प्रत्येक नये साहसिक कार्य के सम्बन्ध में होता है कि आरम्भिक जोश शीघ्र ही ठण्डा पड़ जाता है और तब लगभग इनके अनुयायियों का भी भ्रम टूटने लगता है। उस स्थिति में ऐसे व्यक्ति या तो सम्पूर्णतः मानवद्वेषी या दोषद्रष्टा बन बैठते हैं या वे फिर किसी नये मसीहा के आगमन की आशा बांधने लगते है। ऐसी हालत में पहले से ही फैला हुआ भ्रम और अधिक बढ़ने लगता है और इस दुःखद परिस्थिति से बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नहीं सूझता।

आज ऐसे बहुत-से लोग हैं जो जीवन की मूल समस्याओं के समाधान की अपेक्षा पलायन के जाले में अपने को फंसाये रखने में अधिक रुचि लेते हैं। ऐसे लोग आज एक 'वाद' का अनुगमन करते दिखेंगे तो कल दूसरे वाद का। आज एक नेता के पीछे है तो कल दूसरे के। ये नये से नये समूह में ही हमें घूमते दिखाई पड़ेंगे। परन्तु इन लोगों के अतिरिक्त कुछ गम्भीर प्रकृति के ऐसे लोग भी हैं—भले ही अभी उनकी संख्या कम है, पर वह उत्तरोत्तर बढ़ती चल रही है जो अपने समक्ष उपस्थित की गई बातों पर अन्वेषण करना, उनका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करना और उन पर प्रयोग करना पसन्द करेंगे। वे उसके गूढ़ार्थों, निहितार्थों को पूर्णरूपेण समझे बिना किसी भी विश्वास या श्रद्धा को अग्रगामी होने के कारण ही स्वीकार नहीं कर लेंगे। ऐसे ही प्रबुद्ध पाठकों को हम आमंत्रित करते हैं कि वे एक नवीन चेतना की सम्भावना विषयक हमारी शोध और

अन्वेषण में हमारे सहभागी बनें।

अस्तु, आज जैसी स्थिति है उसमे नकारात्मक पद्धति का ही आश्रय लेकर हम ध्यान-साधना के वास्तविक मर्म तथा उसके महत्त्व तक पहुंच सकते हैं। वह कोई विधि, पद्धति अथवा प्रणाली नही है, अपितु वह है जीवन का मार्ग—निरीक्षण, अवलोकन का एक मार्ग या रीति।

जीवन का अर्थ और महत्त्व

हम जन्म लेते हैं, बढ़ते-पनपते हैं, हमारे बाल-बच्चे होते हैं और फिर हम ढलने लगते हैं, मर जाते हैं। हम वस्तुओं को और जीवन के कार्यकलापों को इतना अधिक महत्त्व देते हैं—हम उनके पीछे दौड़ते हैं, उन्हें अपने अधिकारों में करते हैं, और यह सब करने में हमें अथक श्रम और संघर्ष करना पड़ता है। पर अन्त में हम कहीं नहीं पहुच पाते, मृत्यु हमसे सबकुछ छीन ले जाती है। यह देखकर हम यह समझना चाहते हैं कि यह सब क्यों ? किसलिए ? हम जीवन का अर्थ और महत्त्व समझना चाहते हैं। अपनी इस खोज मे हम अनेक दिशाओं की ओर घूमते हैं, पर हमें मिलता क्या है ?

जीवविज्ञान (Biology) जीवन का विज्ञान है, परन्तु वह जीवन की बाहरी, सतही क्रियाओं का ही अध्ययन और वर्णन करता है। वह केवल चेतन और अचेतन के सतही अन्तरों का ही वर्णन करता है, परन्तु वह हमें यह नहीं बताता कि जीवन क्या है ? कुछ और गहराई में उतरने के लिए हम मनोविज्ञान की ओर जा सकते हैं, परन्तु वह केवल मन की क्रियाओं का ही वर्णन करता है और वह भी हमे कुछ अधिक दूर तक नही ले जाता। मन के मूल स्रोत के विषय मे वह हमे कुछ नहीं बताता। विचार के उद्-गम और उसके अंत के विषय में वह हमें कोई ज्ञान नहीं प्रदान करता। तब हम उससे सतुष्ट न होकर परा-मनोविज्ञान (Para Psychology) की ओर मुड़ते है और मनो-जगत् के क्षेत्र की छानबीन करते हैं। जीवन की पहेली के सुलझाव के लिए रहस्यवाद को टटोलते हैं। इस प्रयत्न मे हम कुछ सन्तोषजनक उत्तर पा सकते हैं। हमें आशा, सुख-सुविधा और शान्ति, सन्तोष की किरण दिखाई पड़ सकती है। परन्तु ये उत्तर तर्क और वैज्ञानिक विचारधारा से मेल नहीं खाते। अतः हमारा मन विभाजित हो जाता है। हमारा दृष्टिकोण समग्रतापूर्ण नहीं हो पाता। इसका उपचार क्या है ? हम क्या है ? इस समस्या का कोई हल भी है या हम आजीवन सतत् इसी तरह खोज और संघर्ष मे ही अपने को बर्बाद करते रहेंगे ?

अपनी खोज या जिज्ञासा को अधिक सार्थक बनाने के लिए सबसे पहली आव-श्यकता है कि हम यह पता लगायें कि हमारी जिज्ञासा का मुख्य उद्देश्य क्या है ? हम क्या खोजना चाहते हैं और क्यों ? हमारे मन में इसके लिए एक बौद्धिक उत्सुकता हो सकती है परन्तु वह हमे बहुत दूर तक नही ले जाती। जीवन के विविध गोचर तत्त्वों के अध्ययन के लिए बौद्धिक उत्सुकता निश्चय ही सहायक हो सकती है, पर जीवन की कुछ गहन

समस्याओं को वह केवल बौद्धिक समाधान दे सकती है परन्तु ऐसे बौद्धिक निरूपण द्वारा मौलिक रूप में समस्या हल नहीं हो पाती।

जीवन का अर्थ खोजने के लिए हमें अपने ही जीवन की ओर मुड़ना पड़ेगा। हमारे जीवन के किसी भी क्रियाकलाप का उद्देश्य क्या है ? क्या उसका लक्ष्य प्रसन्नता या आनन्द नहीं है ? सुबह से शाम तक, बचपन से बुढ़ापे तक हम जो असंख्य कार्य करते रहते हैं, क्या हम उनके द्वारा सुख की ओर ही नहीं दौड़ रहे हैं ? और इस अनन्त दौड़-धूप तथा नाना क्रियाकलापों, प्रयत्नों और संघर्षों के बावजूद हममें से कितने आदमी कह सकते हैं कि हम सचमुच सुखी है। प्रश्न है कि हम यह सुख खोजते क्यों हैं ? क्या हम कोई ऐसी चीज खोज रहे हैं जो कि हमारे पास है अथवा ऐसी चीज खोज रहे हैं जो हमारे पास नहीं है ? हम ऐसी कोई चीज कभी नहीं खोजते जो हमारे पास होती है। तो जब हम सुख खोजते हैं तो क्या उसका यह अर्थ होता कि हमारे पास उसका अभाव है ? हममें से कुछ लोगों के मन में अपने जीवन में कुछ पा लेने या अधिकृत कर लेने का सन्तोष हो सकता है जो उनके अपने मनमाने लक्ष्य के ढांचे के भीतर सही होता है। पर सामान्यतः यही देखा जाता है कि किसी के मन में स्थायी सन्तोष नहीं है। हम जिसे सन्तोष कहते हैं उसकी क्षणिक चमक दिखाई पड़ती है और बाद में फिर उकताहट हमें घेर लेती है। फिर संतोष की प्राप्ति के लिए उसके पीछे हमारी अन्तहीन दौड़ जारी हो जाती है। यह तलाश, यह दौड़ अन्ततः बोरियत से बचाव का एक साधन बन जाती है। यदि हम इस दौड़ को चालू नहीं रखना चाहते तो हम निरीक्षण का एक ऐसा मापदण्ड आरम्भ कर सकते हैं जो केवल नीचे की ओर देखता है। हम ऐसे ही लोगों के साथ अपने भाग्य की तुलना करने लगते हैं जो हमसे कम भाग्यशाली और हमसे कम सुविधा-प्राप्त हैं। लेकिन यह संतोष उसी क्षण हवा में गायब हो जाता है जब हम ऊपर की ओर देखते है और उन लोगो से अपने भाग्य की तुलना करने लगते हैं जो हमसे अधिक सुविधा-प्राप्त हैं। यह संतोष सच्चा संतोष नहीं है। यह केवल एक प्रतिरोध शक्ति का प्रदर्शन है जिससे हम दूसरों से बाहर होकर स्वयम् को विशेष मानते हैं। अस्तु—हम इस मानसिक प्रतिरोध शक्ति का विस्तार करने के स्थान पर बिना अटकाव के सुख और संतोष की अन्तहीन दौड़ में लगे रहते हैं तो उसके चलते सामाजिक समस्याएं तो उत्पन्न होती ही है, हमारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य भी नीचे गिरने लगता है।

हम जब अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की संतुष्टि की प्रक्रिया में लगते हैं तो किसी मात्रा में उसके साथ संवेदिक (सवेदी) सुख भी आ जाता है जो कि स्वाभाविक है और सम्भवतः उसका आवश्यक संगी-साथी है। इन संवेदिक सुखों को नष्ट कर डालना आवश्यक नहीं है। तपस्वी लोगों ने बड़े पैमाने पर जिन उपायों का आश्रय लिया है वे नकारात्मक सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे। भौतिक स्तर पर संवेदात्मक सुख-दुःख एक सुरक्षात्मक दैहिक कार्य करते रह सकते हैं। पर इन संवेदात्मक सुखों को आंगिक आवश्यकताओं से अलग कर देने से और एकमात्र इन्हीं सुखों के पीछे दौड़ने से मस्तिष्क कुंद हो जाता है और स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। संवेदनात्मक दुःख की कोई भी मात्रा

क्यों न हो उस समस्या का अपेक्षाकृत सरल समाधान निकल सकता है। या तो उसका उपचार हो जाता है और यदि वह असाध्य होती है तो देर-सबेर मृत्यु आकर कष्ट का अध्याय समाप्त कर देती है। परन्तु जब हम संवेदी सुखों से मनोवैज्ञानिक सुख प्राप्त करने लगते हैं, तो हम उसके साथ-साथ मनोवैज्ञानिक दुःख की एक अन्तहीन सम्भावना खड़ी करते हैं —जिसका कि काल और क्षेत्र असीम लगता है। यों सुख और दुःख बिल्कुल परस्परविरोधी जान पड़ते हैं परन्तु वस्तुतः इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनमें कोई असीम अन्तर नहीं है, केवल एक आनुपातिक अन्तर है। भौतिक स्तर पर हमारे चमड़े पर यदि तापमान और दबाव का प्रयोग किया जाय तो वे किसी एक मात्रा तक ही सुखद प्रतीत होते हैं, उस मात्रा के आगे वे दुःखद प्रतीत होने लगते हैं। मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह अन्तर और भी कम हो जाता है। यद्यपि सामान्य मानवीय चेतना उसे शायद ही कभी देख पाती है। मनोवैज्ञानिक सुख-दुःख विचार के माध्यम से अपने भौतिक सहयोगियों पर ही खड़े होते हैं। इन सुखों पर कुछ देर तक चिन्तन करने से इच्छा उत्पन्न होती है। कामना की शक्ति बड़ी विनाशक होती है। पहले तो कामना अपनी संतुष्टि के लिए कोलाहल मचाती है, परन्तु संतुष्टि तो क्षणिक होती है—विशेषतः तब जब मन या मस्तिष्क अशान्त और उत्तेजित रहता है। प्रायः ऐसे अवसर आते हैं जब ऐसा लगता है कि जितनी बेचैनी और प्रयत्न का मूल्य चुकाया गया उसके अनुपात मे जो क्षणिक संतोष मिला, वह उसका एक नगण्य पुरस्कार था। इस कामना को रोकने की आवश्यकता की ओर हमारी रुझान होती है परन्तु इसके नियंत्रण अथवा विनाश के लिए हम जो संघर्ष करते हैं उसमे हमें अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ता है और उसमें हमारी बहुत बड़ी शक्ति बर्बाद हो जाती है। मानस यदि दुर्बल रहता है तो हम जो प्रतिज्ञाए करते है उन्हें शीघ्र ही तोड़ बैठते हैं और उसके फलस्वरूप हममें अपराध की भावना पनपने लगती है और मानसिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यदि हमारा मानस अधिक शक्तिशाली होता है तो हम अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा अपनी कामनाओं को कुचल सकते हैं। तब उसके चलते हमारी ग्रहणशीलता, संवेदनशीलता कुंद हो जाती है और हमारा व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है। हम एक शांत, अनुद्विग्न, प्रसन्नवदन वाले तथा कथित संत के रूप में दिखाई पड़ सकते हैं। पर हमारे भीतर अशान्ति की ज्वाला धधकती रहती है। यों हम देखते है कि कामना और वासना दोधारी तलवार है। हम उसकी संतुष्टि करते है तो वह पश्चात्ताप और ग्लानि ले आती है। यदि हम उसे दबाते हैं तो वह हमें उससे भी अधिक अशान्ति और क्षोभ में उतार देती है।

इच्छा का कहीं अन्त नहीं होता। उसमे 'और' 'और' की हवस भरी रहती है। जब देखो तब वह किसी नये रूप में दिखाई पड़ती है। बार-बार क्षणिक संतोष के बाद वही बोरियत आ जाती है। वही निराशा आ जाती है। अतः बिना किसी नवीनता के, बिना किसी सृजनात्मकता के सुख की पुनरावृत्ति सतत् ह्रास की ओर चलती है। सुख उत्तरोत्तर घटता चला जाता है। तब सुख की खोज हमारे जीवन का सबसे बड़ा क्लेश बन बैठती है। इस संघर्ष और दुविधा को देखकर बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे बुद्धिवादी लोगों ने—

बौद्धिक निरूपण के आधार पर संकटमुक्त सुख के साधनों की सलाह दी है। 'कोन्क्वेस्ट ऑफ हैपिनेस' नामक उनकी पुस्तक में उन लोगों के लिए सिफारिश की गई है जो बौद्धिक समाधानों के परे जाकर समस्या के मूल तक जाने का कष्ट नहीं उठा सकते। मौलिक बुनियादी रूप से समस्या का समाधान चाहने वाले गम्भीर और निश्छल लोगों के लिए रसेल के समाधान कोई विशेष मूल्य नहीं रखते, वे अत्यधिक सीधे, सरल और विरोधाभासों से भरे पड़े हैं।

भौतिक जगत् मे सुख और दुःख एक बड़ी मात्रा में ठोस और प्रत्यक्ष रूप में होते हैं जब कि मनोवैज्ञानिक जगत् मे ये अन्तर्बोध या विचार पर पूर्णतः आश्रित होते हैं। विचार लचीला होता है और वह विपरीत दिशाओं में बड़ी तेजी से घूमने की क्षमता रखता है। यह आवश्यक नही है कि वह सदैव वस्तुनिष्ठ वास्तविकता के अनुरूप ही हो। वस्तुतः वह अपने को वास्तविकता से दूर हटाकर पूर्णतः अनुमानात्मक और काल्पनिक स्वरूप धारण कर ले सकता है। ऐसी विचारधारा घोर उत्पीड़न और संघर्ष का स्रोत बन सकती है और उसके फलस्वरूप अनन्त कष्ट भोगना पड़ सकता है। अतः सुख के रूप में विचार को हमारे जीवन के भौतिक स्तर को यथोचित रूप में देने से पहले ही, समझकर समाप्त कर डालना आवश्यक है।

हम अपनी विचार-प्रक्रिया द्वारा जो पीड़ा खड़ी करते हैं जिसके लिए प्रत्यक्ष रूप से स्वय हम ही उत्तरदायी हैं, उसके अतिरिक्त इस अनुदार निर्दयी जगत् में हमें एक अन्य प्रकार की पीड़ा का भी सामना करना पड़ता है। हममें प्रतिभा और क्षमताए हो सकती हैं परन्तु जब तक हमारे पीछे प्रभावशाली समर्थन न हो तब तक उन्हें प्रायः न तो स्वीकृति मिल पाती है, न प्रोत्साहन। सिफारिश ही सबसे बड़ी योग्यता बन बैठती है। न प्रतिभा को कोई पूछता है, न कार्यकुशलता को। इससे हृदय को बड़ी ठेस लगती है और निराशा उत्पन्न होती है। प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि चालाक और बेईमान लोग सफल हो जाते हैं, फूलते-फलते हैं और सीधे तथा सज्जन पुरुष असफल हो जाते है और कष्ट भोगते हैं। अतः असफलता का यह कष्ट सहना पड़ता है। फिर भी यदि हममे से कुछ सौभाग्यशाली आर्थिक दृष्टि से सफल हो जाते हैं तो भी वे इस स्वार्थी जगत् मे अपने को अकेला महसूस करते हैं, क्योंकि मैत्री और प्रेम के नाम पर अनेक बार हमारा शोषण किया गया है। अतः या तो हमें यह दुःख झेलना पड़ता है कि कोई हमें प्यार नहीं करता अथवा हम जिन्हें प्रेम करते हैं वे हमें छोड़कर चल देते हैं या मृत्यु उन्हें हमसे छुड़ा ले जाती है। सच्चे प्रेम और मैत्री के अभाव में हमारे जीवन में एक बड़ा व्यवधान, एक बड़ा खोखलापन आ जाता है जिसके कारण हमारे समक्ष एक भयंकर, भीषण भय आ खड़ा होता है। उससे बचने के लिए हम मनोरंजन, नशा या कामवृत्ति जैसे मार्गों को पकड़कर भिन्न-भिन्न दिशाओं में भागा करते हैं। यह बचाव नाम, ख्याति, प्रतिष्ठा की पूजा का रूप ले सकता है अथवा किसी सामाजिक सेवा, लोकहितकारी कार्य के आदर्श का रूप ले सकता है। सर्वोच्च मूल्यों के स्तर पर यह पलायन किसी भी आदर्श के लिए जीने का और उसी के लिए प्राणार्पण करने का रूप ले सकता है। कोई प्रभु के हाथों का

यंत्र बनना चाहते हैं, उसकी इच्छा को सही मूर्त रूप देना चाहते हैं अथवा सत्यरूप परमेश्वर की खोज में लय होकर जीवन बिताना चाहते हैं। यदि हम अन्ततः ऐसे उच्चतम आदर्शों वाले किसी पलायन में एकाग्र होकर जुटना चाहते हैं और उसमे सफलता प्राप्त कर लेते हैं तो एक दिशा में तो हमारा मन एकाग्र या केन्द्रित हो सकता है पर अन्य क्षेत्रों में वह जड़, मन्द और संवेदनशून्य बन जाता है। जड़ता के रूप में दुःख हमारे पीछे लगा रहता है—हम जीवन के अर्थ और महत्त्व को समझने का अवसर खो बैठते हैं।

जीवन की सम्पूर्ण शक्ति कितनी है, इसका हमे कोई ज्ञान नही है। हम तो केवल दैनिक जीवन में हमें घुमाने वाली अपनी इच्छा की थोड़ी-सी आंशिक शक्ति का ही ज्ञान रखते हैं। इच्छा की संतुष्टि होने पर सुख या प्रसन्नता की क्षणिक चमक-दमक आती है और उससे अपेक्षाकृत दीर्घकालीन ऊब, बोरियत या निराशा आ जाती है। प्रत्येक उत्तेजन के उपरान्त अवसाद आता है और बार-बार दोहराये गये उत्तेजन के उपरान्त अन्ततः थकावट और क्षय का आना स्वाभाविक है।

सुख का जितना अनुगमन किया जाता है उतनी ही उसमें छिपी, अन्तर्निहित ऊब गहरी होती जाती है। अतः जिस जीवन मे सुख की अनन्त खोज जागी रहती है वह अत्यन्त सतही, छिछला और बदरंग बन जाता है। ऊब शायद हमारे सामान्य दैनिक जीवन का एक आवश्यक अंग बन गई है। उससे बचाव की कोई सूरत नजर नही आती। ऊब के उपचार की कोई भी खोज दु.ख को ही आमंत्रित करती है और उसे घनीभूत बनाती है। तो क्या हम दुःख को स्वीकार कर लें? दुःख के साथ हम समझौता कर लें? अथवा क्या हम दुःख की प्रशंसा के पुल बांधें या कविता के स्तर पर ले जाकर दुःख की प्रशसा के गीत गायें? अथवा जैसा कि पिछले दिनों कुछ धार्मिक संगठनों ने किया है, एक महान् वरदान के रूप मे हम दुःख की उपासना करें? इसमें सन्देह नहीं कि दुःख मानव को नयी-नयी ऊंचाइयों की दिशा में ले जाने वाला उत्प्रेरक रहा है। दुःख से अनेक कविताओं और ललित कलाओं का जन्म हुआ है।[1] सुख और संतोष हमें आत्मसंतोष की निद्रा में सुला देते हैं। दुःख की महान् चुनौती ही हमें वह जागरूकता प्रदान करती है जिसके द्वारा ही हमें नये आयामों की दिशा मे बढ़ने मे सहायता मिल सकती है। अतः दु.ख की शक्ति को समझ लेना आवश्यक है—भूतकाल में मनुष्यों ने दुःख से बचने के असख्य बहाने खोज निकाले हैं परन्तु वे दुःख को कभी ठीक से समझ नही सके और इसीलिए वे दु.ख का रूपान्तरण नही कर सके।

जीवन का अर्थ और महत्त्व समझने के लिए दो बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। पहली बात तो यह है कि हम ऐसे सभी तत्त्वज्ञानों को नमस्कार कर लें जो इन्द्रियों की सवेदनशक्ति को सीमित करने पर बल देते हैं और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से इन्द्रियो को कुण्ठित या कुंद करने की शिक्षा देते है। किसी नयी और व्यापक वस्तु की खोज के लिए हमे उच्चतर सवेदनशीलता और इन्द्रियों की सहजानुभूति की आवश्यकता होती

1. वेदना है विकास का मूल।

है। इन्द्रियों को इस प्रकार का शिक्षण देना चाहिए कि वे किसी अन्तर्बाधा के बिना पूर्ण रूप से और समग्र रूप से अपना काम कर सकें, फिर भी वे विषय-लिप्त न हों। दूसरी बात यह है कि हम दुःख के बहानों को अस्वीकार कर दें, दुःख की ओर पूरा ध्यान दें और देखें कि किस प्रकार उसका रूप-परिवर्तन किया जा सकता है।

हम देख चुके हैं कि सुख की खोज केवल दुःख ले आती है तो क्या इसका यह अर्थ है कि जीवन में सच्चा सुख कहीं है ही नहीं? यदि हम अपने-अपने जीवन पर विचार करते हैं तो देखते है कि जीवन में कभी-कभी बिना किसी स्पष्ट कारण के ऐसे दुर्लभ, अनूठे क्षण आ जाते है जिनमें व्यापकता, सौंदर्य और उल्लास की बड़ी भावना भरी रहती है। उनका कारण न तो हमारी कोई उपलब्धि होती है, न किन्हीं वस्तुओं का हमारा स्वामित्व होता है और न हमारी किन्हीं कामनाओं की पूर्ति होती है। यह उल्लास भाव उस समय आ सकता है जब कि हम किसी सुन्दर चेहरे को देख रहे हों अथवा सूर्यास्त की बेला में आकाश में बादलों पर सुन्दर रंगों के खेल देख रहे हों, अथवा तारोंभरी रात में पूर्ण चन्द्र को पृथ्वी पर अपनी चांदनी बिखेरते देख रहे हों। यह उल्लास का भाव उस क्षण भी आ सकता है जब हम तीव्र गति से दौड़ने वाली ट्रेन में डिब्बे के दरवाजे के सामने खड़े हों, जब सामने के खेत और वृक्ष पीछे दौड़ते चले जा रहे हों और हमें अपना सारा जीवन अत्यन्त क्षुद्र, महत्त्वहीन और क्षणिक जैसा लगता हो। यह क्षण उस समय भी आ सकता है जब मन्द-मन्द पवन बहती हो जो धीरे-धीरे कोमलतापूर्वक हमारे चेहरे को छूती हो और वायु की उस संगीत लहरी के साथ फूल-पत्तियां आनन्द से थिरक रही हों। अथवा यह उल्लास उस क्षण आ सकता है जब हम किसी मन्दिर या गिरजाघर के घण्टे की ध्वनि सुन रहे हों या हम किसी मूर्ति के समक्ष खड़े हों। अभिमानी निमाई पण्डित जब एक मन्दिर की प्रतिमा की ओर देख रहा था तभी वह क्षण आया और अचानक ही वह नम्र, श्रद्धालु चैतन्य महाप्रभु भक्त के रूप में परिवर्तित हो गया। प्रसन्नता की यह घटना नानारूपों में घट सकती है पर एक ही वातावरण में, एक ही परिस्थिति में सदैव एक-सा ही अनुभव नहीं आयेगा। इस हर्ष की पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती। यह किसी कामना या खोज की परिसमाप्ति नहीं है। क्षण-भर पहले भी हम नहीं जानते कि अगले क्षण क्या होने वाला है। मन के समक्ष जब ऐसी सर्वथा नयी और अपेक्षित स्थिति आ खड़ी होती है तो वह पूर्णतः शान्त और स्थिर हो जाता है। अगले ही क्षण एक विस्फोट होता है, हमारे अहं की धज्जियां-धज्जियां उड़ जाती हैं और यह होता है—सृजनात्मक आनन्द।

सृजनात्मक हर्ष सहज, स्फूर्ति घटना होती है। वह निश्चय ही हमारे समक्ष आती है। हम उसका पीछा नहीं कर सकते। यह प्रसन्नता उन अनपेक्षित क्षणों में आती है जब मानस शान्त रहता है और वह सभी अपेक्षाओं से सर्वथा मुक्त रहता है। हर्ष का जीवन स्वतः सहज जीवन हो सकता है परन्तु संघर्ष प्रयत्नशील जीवन दुःख का जीवन होता है। सुख के पीछे दौड़ा जा सकता है और उसकी अन्तहीन दौड़ ऊब, थकावट, क्षय और दुःख ही लाती है। परन्तु हर्ष या प्रसन्नता के पीछे दौड़ा नहीं जा सकता, उसको

खेती की तरह जोता-बोया नहीं जा सकता। वह तो अनायास घटना होती है। किसी विचार और स्मृति के माध्यम से जब किसी हर्ष की अनुभूति होती है तो उसी के बीज-कोष के चारों ओर प्रत्येक सुख की रचना होती है। अतः इस सुख को कोई नष्ट करना चाहे तो प्रसन्नता के उस बीज-कोष को नष्ट किये बिना ऐसा नहीं हो सकता। अनेक तपस्वियों ने भोग-विलास को नियंत्रित करने अथवा नष्ट करने की चेष्टा की है, परन्तु वे उसमें सफल नहीं हो सके। उन्होंने हृदय की शुष्कता का और अहं का एक नकारात्मक सुख तो खड़ा किया है। वैराग्य के द्वारा हम सकारात्मक सुख को नष्ट कर सकते हैं परन्तु उसके साथ-साथ हम अपने जीवन में कभी समूची प्रसन्नता के आ सकने की सम्भावना को भी नष्ट कर डालते हैं। सुख या विलास की प्रकृति और उसकी सीमाओं को यदि हम ठीक ढंग से समझ लें तो भोग-विलास की, सुख की हमारी खोज का अन्त हो सकता है जो कि हमारे मानस को शान्ति की स्थिति में लाकर छोड़ देगी। इस प्रकार की स्थिति में ही प्रसन्नता का पुष्प खिलता है। यह हर्ष ही वह वस्तु है जो हमारे मानस का परिवर्तन कर सकता है। यह हर्ष ही दैवी कृपा (Divinegrace) है, यदि हम उस शब्द का प्रयोग करना पसन्द करें तो। यह आवश्यक नहीं कि हर्ष की यह कृपा निश्चित रूप से ईमानदार, न्यायनिष्ठ लोगों पर भी बरसे। वह ऐसे लोगों पर भी बरस सकती है, उनके जीवन को स्पर्श कर सकती है जो तथाकथित अथवा नीच माने जाते हैं। सीधे-सादे और नम्र लोगों के जीवन में हर्ष अपनी सारी कलाओं के साथ प्रस्फुटित होता है। उसके आगमन के लिए कोई पूर्व शर्तें नहीं हैं। हां, उसके खिलने के लिए एक शर्त है। वह शर्त है—सच्ची नम्रता। ईमानदार, न्यायनिष्ठ होने का, तपस्यामय नैतिक जीवन का, पुस्तक के ज्ञान का अथवा शास्त्रों के ज्ञान का अहंकार इसके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है।

हम जब दुःख का सामना करते हैं, उसे समझते हैं, उसका रूप-परिवर्तन करते हैं, तब हम यह समझ सकते हैं कि प्रेम क्या है। प्रेम के खिलने का अर्थ है—दुःख की समाप्ति और जीवन के अर्थ और महत्त्व की खोज की समाप्ति। दुःख की जागरूकता से प्रेम का आरम्भ होता है और प्रेम के आरम्भ से सब प्रश्नों की समाप्ति होती है। प्रेम की स्थिति में मन जब पहुंचता है तो वह कोई प्रश्न नहीं पूछता। दुःख को समझ लेना ही ध्यान, साधना है और प्रेम का पुष्पित-पल्लवित होना ही ध्यान की साधना की परि-समाप्ति है।

मुक्ति : मोक्ष : निर्वाण

विभिन्न लोगों ने विभिन्न कालों में विभिन्न प्रकार से मुक्ति को समझा है और अपने-अपने ढंग पर उसकी व्याख्या की है। एक युग में—कम से कम पूर्व में—तो ऐसा था ही कि मुक्ति का अर्थ माना जाता था जन्म-मरण के चक्र से ऊपर चले जाना। कारण, उस समय लोगों का ऐसा अनुमान था कि मानव-जीवन के सारे दुःखों और कष्टों का आरम्भ मनुष्य के जन्म के साथ होता है। परन्तु यदि हम गहराई से इस प्रश्न पर और इसके गूढ़ार्थों पर विचार करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि इस दुःख का अधिकांश कल्पना और चिन्तन का ही परिणाम है। जन्म के समय हमें कोई गम्भीर दर्द या कष्ट नहीं होता। गर्भावास के नौ महीनों में भी हमें कोई भयंकर कष्ट नहीं झेलना पड़ता, भले ही प्रौढ़ व्यक्तियों की कल्पना में यह भाव रहता हो कि वहां बहुत कष्ट भोगना होता है। उसी प्रकार मृत्यु का हमारा भय भी कल्पना या चिन्तन का परिणाम है। मृत्यु के समय मरणोन्मुख व्यक्ति को उसकी जानकारी में शायद ही कभी घोर कष्ट की अनुभूति होती हो। यदि कोई मनुष्य सारा जीवन शांति और समरसता से बिताये, उसके जीवन में संघर्ष और कष्ट न रहें तो बार-बार जन्म लेने की उसे कोई चिन्ता न होगी। ऐसे व्यक्ति के लिए पुनर्जन्म अनन्त प्रसन्नता का विषय हो सकता है—मृत्यु उसके लिए कोई भयदायक वस्तु न रहेगी और उसकी चेतना में 'दुःख' या 'कष्ट' शब्द अपरिचित जैसा ही रहेगा।

परन्तु जन्म-मृत्यु के चक्र से परे जाकर निर्वाण या मोक्ष की तलाश करने का, जीवन की विपुल समस्याओं के प्रति ऐसा रुख रखने का अर्थ ऐसी स्थिति में चले जाना है जिसे दैनिक जीवन के अस्तित्व की सीमा से परे जाकर कम से कम आंशिक रूप में पलायन या परावर्तन ही कहा जायेगा। इस प्रकार की विचार-पद्धति का स्वाभाविक परिणाम होता है—सांसारिक जीवन का त्याग। अतः कुछ धार्मिक पन्थों के लिए मोक्ष या निर्वाण के लिए वह अनिवार्य बन गया (Sine Qua Non)। इस मार्ग पर चलकर शायद कुछ लोगों को अपनी व्यक्तिगत समस्याओं का कुछ समाधान मिल गया हो पर मानव जाति के बड़े समूह के लिए ऐसा त्याग असम्भव ही रहा है। यह मार्ग समग्र रूप से दैनन्दिन जीवन की चुनौतियों का सामना नहीं कर सकता था। समग्र मानवीय समस्या, जो व्यक्तिगत समस्या के विपरीत पड़ती है—बिना सुलझे हुए ही रह गई।

तब प्रश्न यह उठता है कि मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण है क्या ? मुक्ति को सदा से

आवश्यकता के साथ जोड़कर रखा गया है। कोई भी व्यक्ति अपनी लालसाओं, इच्छाओं और भावनाओं को, अपने विचारों को मुक्त रूप से व्यक्त करना पसन्द करे तो इसके लिए उसे सामाजिक पर्यावरण से संघर्ष करना पड़ सकता है। ऐसा यदि न भी हो, मनुष्य के विचार सामाजिक नियमों या सदाचारों के अनुकूल भी हों, तो भी ऐसा सम्भव है कि उसे अपने आप से ही संघर्ष करना पड़े। कोई भी सामाजिक सदाचार अबाध्य, अलंघ्य या परम पवित्र नहीं है। वह व्यक्तियों, व्यक्ति समूहों की चुनौतियों के चलते परिवर्तित हो सकता है। बदल सकता है। किसी भी व्यक्ति को यह खोजना पड़ेगा कि अपने सामाजिक संगठन के भीतर रहते हुए वह अपनी मत-भिन्नता में, दूसरे लोगों की प्रतिक्रियाएं बिना बुलाये हुए किस सीमा तक जा सकता है। उसे यह भी देखना होगा कि क्या स्वतंत्र जीवन बिताने के लिए उसकी यह मत-भिन्नता वस्तुतः आवश्यक है। सामाजिक अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध मनुष्य जो सामान्य व्यक्तिगत विद्रोह करता है, वह एक प्रतिक्रिया है और वह प्रतिक्रिया मनुष्य को मुक्ति नहीं दिलाती। कारण कि प्रतिक्रिया के बदले में दूसरी प्रतिक्रिया ही आती है और इस प्रकार प्रतिक्रियाओं की अन्तहीन श्रृंखला चालू हो जाती है। मनोवैज्ञानिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रतिक्रिया अपनी विरोधी प्रतिक्रिया के साथ निकट रूप से जुड़ी रहती है। इतिहास में हम देखते हैं कि हिंसा का प्रायः हिंसा द्वारा विरोध किया गया है, पर हिंसा हिंसा को मिटा नहीं सकी। अहिंसा भी तो हिंसा को मिटा नहीं सकी। युद्ध समाप्त करने के लिए, युद्ध का अन्त करने के लिए हजारों युद्ध लड़े गये हैं, परन्तु युद्ध समाप्त नहीं हो सका। शान्ति-वाद (Pacifish) युद्ध रोकने का उपाय बताया गया। इस बात का बड़ा प्रचार किया गया, परन्तु मनुष्य जब तक अपनी आन्तरिक प्रकृति से लोभ, हिंसा और प्रतिद्वंद्विता को निकाल बाहर न करे तब तक ऐसी बातों से कोई विशेष लाभ नहीं है। युद्ध और सामाजिक संघर्ष के बीज मानव के मानस के भीतर ही बोये जाते हैं। जब तक मानवीय प्रकृति को ही मौलिक रूप से परिवर्तित न कर दिया जाये, तब तक ऊपरी उपदेशों, उपचारों और पद्धतियों द्वारा संघर्ष का अन्त नहीं होगा।

अतः हमें किसी रूढ़ि, परम्परा या सिद्धान्त के रूप में नहीं, प्रत्युत अपने अनुभव और अपनी बुद्धि द्वारा—जिसे हम ध्यान (Heditation) कह सकते हैं—इस बात को समझना चाहिए कि प्रतिक्रिया मुक्ति से, स्वतंत्रता से बहुत दूर की चीज है। प्रतिक्रिया तो सतही मन की बहुत ही छिछली अनुक्रिया है।

संघर्ष का आरम्भ व्यक्तिगत मानवीय मानस के भीतर होता है और जब तक उस आन्तरिक संघर्ष को मिटाया नहीं जाता, तब तक संघर्षशील व्यक्तियों द्वारा निर्मित कोई भी समाज संघर्ष और विश्रृंखलता से कभी मुक्त नहीं हो सकता। अन्ततः कोई भी व्यक्ति समग्र मानवीय चेतना से पृथक् नहीं हो सकता और जब वह अपने भीतर कोई परिवर्तन लाता है तो वह समग्र मानवीय मानस को प्रभावित करता है। अतः मुक्ति में केवल बाहरी पर्यावरण नहीं आता। जो परिवर्तन के लिए अनुकूल हो उसके लिए आन्तरिक स्थिति भी ऐसी होनी चाहिए जो भय चिन्ता और दुःख से शून्य हो

आन्तरिक संघर्ष-मुक्त यह स्थिति सम्पन्नता और भौतिक समृद्धि के द्वारा नही लाई जा सकती---उल्टे ऐसी सम्पन्नता ने तो आन्तरिक संघर्ष को और अधिक बढ़ावा दिया है। संघर्ष के बीज खोजने के लिए मनुष्य को अपने ही मानस की ओर मुड़ना होगा और उसके विभिन्न अंशों का पता लगाना होगा। इस निरीक्षण द्वारा, जो कि ध्यान ही है, मनुष्य शायद अपने व्यक्तित्व में समन्वय या योग ला सकता है। इस प्रक्रिया के द्वारा किसी दूर भविष्य में अथवा मृत्यु के उपरान्त मुक्ति पाने के बजाय वह पर्यावरण की कड़ियां तोड़कर अभी ही, तत्काल ही अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। मृत्यु के उपरान्त मुक्ति की अवधारणा का कोई विशेष अर्थ या महत्त्व नहीं है।

मुक्ति केवल इसी बात मे नहीं है कि हम चाहे जो कुछ करने के लिए स्वतंत्र है। अशान्त और उत्तेजित मन के द्वारा हम प्रतिक्रियाओ की शृंखला में चाहे जो कुछ कर सकते है, फिर भी वह मुक्ति या स्वतन्त्रता नही है, बल्कि वह मुक्ति का निषेध है। हम यदि अपने कार्यकलापों के उद्गम को खोजते चलें तो हम सहज ही यह देखेंगे कि हमारा अचेतन मानस किस प्रकार छिपी हुई भावनाओं और अभिप्रेरणाओं के संयोजन द्वारा और हमारी आदतों को मोड़कर हमे सहज कार्य को नहीं करने देता जो मुक्ति या स्वतन्त्रता से उत्पन्न होता है और जो पुनः हमें मुक्ति की ओर ले जाता है। अतः मुक्ति किसी बाहरी वस्तु से नहीं पानी है। मुक्ति तो एक ऐसी स्थिति है---जो पुरानी परिबद्धता और अचेतन अभिप्रेरणाओं और उद्देश्यों से सर्वथा मुक्त है। ऐसी स्थिति उस प्रकार की शान्त और ध्यानावस्थित मानस से ही आ सकती है जो शक्ति, प्रेम और करुणा से ओतप्रोत हो।

सम्पूर्ण कार्य न तो केवल बुद्धि या तर्क से होता है, न किसी प्रेरणा या अन्तःप्रेरणा से होता है—वह आखिरकार अहंप्रेरित ही हो सकता है। ऐसा कार्य सर्वोच्च बुद्धि और एकीकरण के द्वारा ही हो सकता है जो कि शान्त ध्यानावस्थित मानस का आधारस्थल है।

ऐसा मानस प्रचलित धर्म-विरोधी होता है क्योंकि वह स्वयं अपना स्वामी होता है। वह अन्य किसी सूत्र पर, किसी व्यक्ति अथवा ग्रन्थ पर अपने मार्गदर्शन के लिए निर्भर नहीं रहता—वह अपने पुराने निजी अनुभव पर भी निर्भर नहीं रहता, केवल इतना ध्यान रखता है कि भूतकाल में उससे कोई गलती हुई हो तो उसे फिर दोहराये नहीं। वह किसी विचारधारा, किसी पद्धति या किसी तत्त्वज्ञान के अनुसार नही चलता। ऐसा मानस स्वयं निरीक्षण करता है और समझता है। उसी निरीक्षण और ज्ञान के द्वारा ही कार्य होता है जिससे न तो संघर्ष पैदा होता है न दुःख। कारण, उसका जन्म होता है अन्तर्दृष्टि से और प्रज्ञा से।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

—पातंजल योगसूत्र 1.48

उस स्थिति में प्रज्ञा संशय और संदेह से मुक्त रहती है।

स्वतः-स्फूर्ति

चीन के प्राचीन संत लाओत्से मे लेकर अत्यन्त आधुनिक विचारकों में से अनेक लोगों ने स्वयं-स्फूर्ति या सहजता (Spontaneity) के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये है। इस बात मे कोई सन्देह नही कि सहजता के बिना किसी प्रकार की मुक्ति नही मिल सकती। परन्तु 'सहजता' शब्द ही सहजता नही है। इस शब्द के पूरे तात्पर्य को समझे बिना सहजता के स्थान पर ऊपरी अथवा यांत्रिक प्रतिक्रियाओं को धोखे से सहजता माना जा सकता है।

स्पष्ट है कि कोई भी कार्य यदि किसी विचार से प्रेरित होकर किया जाता है तो वह स्वयं-स्फूर्त या सहज नही है। बुद्धि के शान्त रहने पर भी यदि किसी भावना, रुझान, प्रवृत्ति या आदत के कारण किये गये किसी कार्य को स्वतः-स्फूर्त कहा जा सकता है? पर क्या कोई कार्य पाशविक मूल प्रवृत्तियों या प्रेरणाओ से स्वतः-स्फूर्त हो सकता है? किसी कुत्ते के लिए जो कार्य स्वतः-स्फूर्त हो, क्या वह किसी मनुष्य के लिए भी स्वतः-स्फूर्त कहा जा सकता है? दूसरे कुत्तों को देखकर भौंकना और उनका पीछा करना किसी कुत्ते के लिए अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है—परन्तु यदि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यों के प्रति इस प्रकार का कोई व्यवहार करे तो क्या उसे स्वाभाविक अथवा स्वतः-स्फूर्त कहा जा सकता है?

मनुष्य ने अपनी विकास-यात्रा में अपने पशु पूर्वजों से अनेक नैतिकताशून्य प्रवृत्तियां और भावनाएं उत्तराधिकार में प्राप्त की हैं। क्या पशु जगत् का अन्धानुकरण मनुष्य के लिए सम्भव है? क्या वह बिना किसी मानसिक संघर्ष के नैसर्गिक रूप मे कोई कार्य कर सकता है? जब कभी कोई मनुष्य पशु जैसा आचरण करता है तो क्या वह वास्तव में किसी न्यायसंगत या तर्कसंगत व्यवहार के तिरस्कार के बिना ऐसा कर सकता है? जब वह किसी पशु की भांति कोई आचरण करता है अथवा करने की चेष्टा करता है तब भी क्या वह सदैव अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं करता? स्वतः-स्फूर्ति तक जाने के लिए मनुष्य को केवल चेतन विचार से ही परे नहीं जाना चाहिए अपितु उसे स्मृति और अन्ध प्रेरणा के रूप मे अचेतन में दबे हुए उस विचार से भी परे जाना चाहिए।

इच्छा-शक्ति, एकाग्रता अथवा बहिष्कार के किसी साधन द्वारा विचार को जबरन निकाल फेंकने से मनुष्य सहजता की स्थिति में नहीं पहुंच पायेगा। ऐसा करके वह

केवल ऐसी स्थिति में पहुंचेगा जिसमें संवेदनशीलता घटेगी या विरोध की भावना पैदा होगी। मानस के कुछ भागों को दबा देने वाली किसी पद्धति के निरन्तर अभ्यास से जाग्रत् संघर्ष को मिटाकर अत्यन्त शक्तिशाली स्थिति लाई जा सकती है। तब सम्भवत: कुछ सामान्य रूप से कठिन कार्य अपने-आप अथवा यंत्रवत् कार्य हो सकते हैं। किन्तु ऐसे स्वतः-चालित या यंत्रवत् कार्य सच्चे अर्थों में स्वतः-स्फूर्त नहीं हो सकते। स्वयं गतिशीलता स्वत:-स्फूर्ति या स्वाभाविकता नहीं है। इसलिए सहजता या स्वाभाविकता की खोज के लिए यह आवश्यक है कि निरीक्षण और ज्ञान द्वारा चेतन और अचेतन सभी विचार समाप्त हो जायें। उनकी यह समाप्ति किसी बाहरी अनुशासन के फलस्वरूप न हो। केवल विचार की समाप्ति द्वारा ही मनुष्य सहजता के आमने-सामने पहुंच सकता है।

शांत ध्यानावस्थित मानस द्वारा ही सहजता प्रकट होती है। सहजता रचनात्मक होती है। सृजनशील सहजता को कार्य करने देने के लिए बुद्धि को अपना सारा सृजन और प्रक्षेपण बन्द कर देना चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि सहजता का अनुशीलन नहीं किया जा सकता। कारण, सहजता का अनुशीलन तो एक बौद्धिक प्रक्रिया है। कलाकारों और कवियों को इस सृजनात्मक स्थिति की कभी-कभी झांकी मिलती है, परन्तु जब वे उसे पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं, तो वे इस स्थिति को खो बैठते हैं। मानव-प्राणियों के लिए सहजता प्राप्त करना सरल है पर इस स्थिति में देर तक बने रहना कठिन है। उसके लिए बड़े अनुशासन की आवश्यकता है और उस अनुशासन का एक अंग यह है कि सृजनात्मक स्थिति का अनुशीलन न किया जाए।

किसी कवि या कलाकार का संवेदनशील मानस वह दर्पण है जिसमें इस सृजनात्मक शक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। जो व्यक्ति लिखता है, रचना करता है अथवा चित्रांकन करता है यह आवश्यक नहीं है कि वह कवि या कलाकार हो ही। वस्तुतः कवि या कलाकार तो केवल वह है जो संवेदनशील हो। सहजता की स्वयं-स्फूर्ति की इस स्थिति में स्थिर रहने के लिए सरल और संवेदनशील मानस का होना आवश्यक है। औषधि, जड़ी-बूटी (Drugs) आदि से यह संवेदनशीलता नष्ट हो जाती है। औषधियां हलकी भी हो सकती हैं, तेज भी। अथवा वे अहंकार, महत्त्वाकांक्षा अथवा लालच जैसी शक्तिशाली दवाएं हो सकती हैं। अहंकारी, महत्त्वाकांक्षी अथवा लालची मानस हिंसात्मक और विकृत होता है। ऐसा मानस शांत, स्थिर नहीं हो सकता। शांति के बिना सहजता नहीं आ सकती।

सामान्य मनुष्य के मानस में कार्य और विचार के बीच संघर्ष होता रहता है। कुछ लोगों ने किसी एक या दूसरी पद्धति के द्वारा विचार को दबाकर इस संघर्ष को निर्मूल करने का प्रयत्न किया है। ऐसी परिस्थितियों में पुनर्जनन को रोकने वाली प्रकृति को बिना किसी बाधा के खेल खेलने का मौका मिल जाता है। संघर्ष तो जाता रहता है, पर असंतुलन बना रहता है। परन्तु जब बड़ी चौकसी और समझदारी के ——— बुद्धि शांत हो जाती है तो मानस में एक ——— होता है मूल मान

बीय प्रकृति बदल जाती है। यह परिवर्तन गहरा और पैना, अन्तर्बेधी होता है। यह ऊपर से नीचे की ओर अथवा भीतर से बाहर होता है। सबसे पहले बौद्धिक परिबद्धता मिट जाती है, बुद्धि जगमगा उठती है। तब वह सहज नैसर्गिक व्यवहार को तर्कसंगत बनाने के लिए बेचैन, अव्यवस्थित, आत्मकेन्द्रित यंत्र मात्र नहीं रह जाती। वह स्वच्छ, स्पष्ट, भ्रमरहित साधन बन जाती है और तब वह सामंजस्य करने वाली प्रज्ञा के उच्चतर प्रकाश में तर्क-संगत रीति से, सद्बुद्धि से विचार करने लगती है। रूपांतरण की यह शक्ति जब गूढ़ पाशविक वासनाओं का स्पर्श करती है तो उनका भी रूपांतरण हो जाता है और तब एक नये मानव का जन्म होता है।

अनेक व्यक्तियों को कुछ दुर्लभ क्षणों में सहजता की उपलब्धि हुई है, परन्तु सहजता में सतत् मग्न रहने वाले व्यक्ति तो अत्यन्त विरल हैं। सहजता में निवास करना उसकी महान् शक्ति और सौदर्य को जान लेना है। अन्य सभी शक्तियां संघर्ष और टक्कर पर आधृत हैं और इसलिए वे विकृत हैं। पर यह एक महान् शक्ति है जो शक्ति के साथ सुन्दर भी है। सहजता की खोज करने के लिए और सहज जीवन जीने के लिए मनुष्य को हाथो द्वारा अथवा बुद्धि द्वारा रचित सारी सम्पत्तियों—सांसारिक समृद्धि अथवा बौद्धिक ज्ञान की सम्पत्तियों या मनोबल की सम्पत्ति से अपना मुंह मोड़ लेना चाहिए। तब मनुष्य पूर्णतः शून्य बन जाता है। उसमें नम्रता भर जाती है और तब वह उस स्थिति में होता है, जिसमें सहजता आ सकती है और सच्ची सृजनशीलता आरम्भ हो सकती है—इस सृजन को काल का स्पर्श नहीं होता, अतः यह क्षय और मृत्यु से मुक्त रहता है।

सहजता की स्थिति में पहुंचने के लिए मनुष्य को आत्मसमर्पण की महान् कला सीखनी होगी और क्षण-क्षण का जीवन जीना होगा। उसे बौद्धिक प्रयत्न तथा इच्छा-शक्ति के जागरण का अभ्यास छोड़ देना होगा, जिससे वह केवल साक्षी रूप में, उपद्रष्टा के रूप में रह सके। ऐसी स्थिति में वह सर्वोच्च शक्ति हमारी सारी चिन्ताओं का भार अपने माथे ओढ़ लेती है और हमारे जीवन में बिना बुलाये ही चमत्कार घटित होने लगते हैं। इस सर्वोच्च सृजनात्मक स्थिति को कोई किसी भी नाम से पुकार सकता है। उसे चाहे ईश्वर कहिये, चाहे सुन्दरम् अथवा सत्य कहिये, पर वस्तुतः सच्ची सहजता से बढ़कर संसार मे कोई भी शक्ति नहीं है।

सारी खोज जहां समाप्त हो जाती है वहीं से सहजता का आरम्भ होता है। सहजता की स्थिति में मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है और वैसा करते हुए न तो कोई सघर्ष होगा और न कोई भूल होगी। सहजता ही प्रेम है। जब किसी मनुष्य के हृदय मे प्रेम होता है तब वह कोई गलत काम नहीं कर सकता। सहजता को खोजने के लिए मनुष्य को सामाजिक अथवा परम्परागत नैतिक मानदण्ड से ऊपर उठना होगा। सहज होने का अर्थ है—सद्‌गुणी होना। सद्‌गुण वही है जो किसी आचारसंहिता अथवा किसी कारण के बिना स्वतः ही पुष्पित-पल्लवित होता है।

औषधि और यौन के अनुभव

मानव-चेतना का इतना विस्तार किया जाये कि उसके द्वारा सत्य अथवा वास्तविकता का साक्षात्कार हो जाए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अत्यन्त प्राचीन काल से औषधि और यौन-अनुभव का व्यापक पैमाने पर उपयोग होता आ रहा है। औषधियो के उपयोग मे जिस उत्तेजना या उद्दीपन का अनुभव होता है, वह झूठा या कृत्रिम होता है, क्योकि वह एक ऐसी छुटकारे की भावना का परिणाम है जो उच्चतर मस्तिष्क सम्बन्धी केन्द्रों के अवसाद पर निर्भर करता है। उसी प्रकार से एकाग्रता और तथाकथित ध्यान (Meditaton) की पद्धतियां भी मस्तिष्क सम्बन्धी झिल्ली (Cerebral Cortex) के आंशिक अवरोध तथा अवसाद पर और दिमाग के अन्तर्बाह्य चुने हुए कुछ केन्द्रो (Sub-cortical Centres) की विमुक्ति पर निर्भर करती हैं। विभिन्न यौगिक परम्पराओं की कठिन और दीर्घकालीन साधनाओं के द्वारा जो अन्तःशक्ति प्राप्त की जा सकती है, वह औषधियों के सहयोग से उपयुक्त गुरु और लगनशील साधक द्वारा उसकी अपेक्षा कही कम समय में प्राप्त की जा सकती है। जो हो, औषधियों से मिलने वाली सुविधाओं की अपेक्षा उनके कारण होने वाले दुष्परिणाम कही अधिक हानिकारक हो सकते हैं।

ध्यान की आधुनिक पद्धतियों के पुरस्कर्ता कड़े शब्दों में औषधियों की भर्त्सना करते हैं परन्तु इस बात के उदाहरण प्रस्तुत हैं कि भारत की मध्यकालीन तांत्रिक साधना मे मद्य, भांग और चरस का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता था और योग पर प्राचीन सर्वोच्च अधिकारी पतंजलि ने अपने योगसूत्र में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है :

जन्मौषधि मंत्र तपः समाधिजाः सिद्धयः

—पतंजलि 4/1

"सिद्धियां जन्म, औषधि अथवा मंत्र, तप और समाधि द्वारा प्राप्त हो सकती हैं।"

आधुनिक साहित्य में एल्डुअस हक्सले ने औषधि और यौन-भाव के प्रश्न पर योगी अथवा रहस्यवादी का सर्वथा विलक्षण दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने अपने 'आइलैण्ड' उपन्यास में इस प्रसंग पर विस्तार से और 'डोर्स ऑफ परसेप्शन' और 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में अपेक्षाकृत कम मात्रा में प्रकाश डाला है। उनके कई उपन्यासों में इस प्रकार के प्रसंगों की थोड़ी-बहुत चर्चा मिलती है आधुनिक भारतीय साहित्य में प्रसिद्ध तांत्रिक

विद्वान् कविराज गोपीनाथ ने ऐसे विषयों पर अधिकारपूर्ण ढंग से लिखा है।[1]

पूर्व और पश्चिम, दोनों की अनेक यौगिक संस्कृति और रहस्यवाद की प्राचीन परम्पराओं पर इस बात मे बड़ा बल दिया गया है कि यौन-शक्ति पर नियंत्रण करके सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। यह बल सम्भवतः इसलिए दिया गया होगा कि मानव-मस्तिष्क जिन आकर्षणों की ओर दौड़ता है उनमें शायद यौन-आकर्षण सबसे अधिक दुर्धर्ष और दुर्जेय है। उसका कारण यह है कि सम्पूर्ण आत्म परित्याग और आत्मसात के साधन का उसका अपना विशेष पद है। यौन-भावना का एक अन्य पहलू यह है कि उसमे प्रजनन शक्ति रहती है और इस कारण यह माना गया है कि यौन-कार्य में प्रवृत्त होना केवल पाप ही नही है, अपितु उसमें शक्ति का भारी क्षरण भी है। यों यदि सम्भोग-कार्य संघर्षशून्य हो तो वह किसी भी शारीरिक क्रिया से अधिक शक्ति का क्षरण करने वाला नही है। वस्तुस्थिति यह है कि इस कार्य के चारों ओर संघर्ष और ग्लानि की जो भावना जुड़ गई है, उसके कारण शक्ति का भारी क्षय होता है।

मध्यकालीन तपस्वियों में यौन-भाव की भर्त्सना सामान्य बात थी ही, पर वर्तमान युग में भी महान् विचारक और योगी श्री अरविन्द भी इस विचारधारा से मुक्त नही रह सके। उन्होंने तो यौन-अनुभूति की यहां तक भर्त्सना की कि परायी अथवा अपनी पत्नी के साथ सभोग में कोई अन्तर नही माना। उन्होंने अपने सभी साधको को यौन-अनुभूति से दूर रहने के लिए कहा, यद्यपि वे आत्मानुभूति की एक ऐसी स्थिति का भी वर्णन करते हैं, जिसमे सम्भोग का कोई बुरा प्रभाव नही पड़ता। परन्तु यह बात आसानी से समझ मे आ सकती कि कोई साधक जो इस प्रकार यौन-भाव के प्रति प्रतिबद्ध हो चुका है, वह आत्मानुभूति के बाद किसी दिन अकस्मात् किसी मानसिक संघर्ष के बिना कैसे यौन-सुख का आनन्द ले सकेगा?

इन सारे गूढ़ार्थों को समझते हुए वाममार्गी तान्त्रिकों ने यौन-प्रतीकों और वास्तविक सम्भोग-प्रक्रिया को इन प्रतिबद्धित प्रभावों से ऊपर उठ जाने दिया, ताकि उनकी साधना आरम्भ से ही अनेक आन्तरिक संघर्षों से मुक्त रहे। शायद तान्त्रिक साधना मे सघर्ष, आत्मपीड़न और दमन कम रहा, क्योंकि उसने साधना की चेतन और अचेतन उत्तेजनाओ का सदैव ध्यान रखा और तदनुकूल ही अपना मार्ग या अनुशासन निश्चित किया। साधना के आरम्भ में ही स्वतंत्रता की आवश्यकता समझ ली, उसके लिए अन्त तक प्रतीक्षा नहीं की।

आज पश्चिम में युवावर्ग नियंत्रित और पूर्ण मार्गदर्शन के बिना औषधि और यौन-अनुभव की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है। तान्त्रिकों की तुलना मे शायद ये लोग किसी अवरोध के बीच अपना काम चला रहे है। तान्त्रिकों की पद्धति और प्रक्रिया भली भांति विकसित थी और उसका एक परिपूर्ण दर्शन था। इन युवा लोगो मे बहुतों के विषय में ऐसा खतरा है कि ये ऐसे प्रयोगों द्वारा मार्गभ्रष्ट हो जाएंगे और उसके कारण ये मस्तिष्क सम्बन्धी उत्तेजना की चोट के अधिक शिकार बनेंगे। इन सब

1. 'भारतीय संस्कृति और साधना'

बाधाओं के बावजूद इनमें से अनेक व्यक्ति औषधियों से ऊपर उठकर सच्ची आध्यात्मिक यात्रा की ओर जाने में सफल हुए हैं।

प्रश्न है कि इन अनुभूतियों का अथवा ऐसी ही किन्हीं अन्य अनुभूतियों का मूल्य क्या है? मैस्कलीन (Mescaline),[1] एल० एस० डी० या हशीश-भांग जैसी औषधियां मस्तिष्क के कुछ उच्चतर केन्द्रों को निरुद्ध कर देती हैं और मध्यमस्तिष्क के कुछ केन्द्रों को उत्तेजित कर देती हैं। इस प्रकार वे प्रयोक्ता के समक्ष अवचेतन का रहस्य प्रकट कर सकती हैं अथवा पुरातन मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों को प्रस्थापित कर सकती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति लगातार औषधियों के ही प्रभाव में न रहकर मस्तिष्क की सामान्य और गम्भीर स्थिति में रहते हुए किस प्रकार इन नवीन मूल्यों को ग्रहण कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति अपने अचेतन में अन्तर्दृष्टि के द्वारा इन वैकल्पिक मूल्यों को खोजकर उन्हें स्वीकार कर ले और औषधियों का पुनः प्रयोग किये बिना उन्हें अपने जीवन का अंग बना ले तो शायद बहुत बड़ी उपलब्धि हो सकेगी। परन्तु होता यह है कि और अधिक अनुभूति प्राप्त करने के लिए तथा उन अनुभूतियों को स्थिर बनाये रखने के लिए लोग औषधियों पर अधिकाधिक निर्भर रहने लगते हैं—उससे आध्यात्मिक जागरण और अन्तर्दृष्टि पाना तो दूर रहा, औषधियों के नशे का व्यसन लग जाता है। औषधियों पर आश्रित सत्य या आनन्द अथवा वास्तविकता केवल रासायनिक भ्रममात्र है। वह उस मुक्ति से सर्वथा भिन्न है जो एकाग्र निरीक्षण और अन्तर्बाह्य जीवन के ज्ञान के कारण सहज भाव से प्राप्त होती है।

उसी प्रकार किन्हीं विशेष परिस्थितियों के भीतर सम्भोग द्वारा किसी मानवीय मस्तिष्क को स्वतः-स्फूर्त सृजनशीलता अथवा आनन्द की किसी निरहंकारी स्थिति का साक्षात्कार हो सकता है—परन्तु उसमें खतरा यही है कि मस्तिष्क कहीं यह न सोच बैठे कि यह स्थिति एकमात्र सम्भोग-क्रिया से प्राप्त होती है। ऐसी सृजनात्मक अथवा आनन्दमय स्थिति सम्भोग के द्वारा उपलब्ध हो सकती है परन्तु प्रत्येक सम्भोग द्वारा ऐसी स्थिति नहीं आयेगी। तब यदि हम इन्हीं अनुभूतियों द्वारा उक्त स्थिति को प्राप्त करना चाहेंगे तो इस बात की ही अधिक सम्भावनाएं हैं कि हमारी सारी अनुभूति केवल उत्तेजना अथवा पुनः-पुनः उद्दीपन छोड़कर और कुछ न होगी। और वह हमें सृजनात्मक मुक्ति की अनुभूति के स्थान पर वासनात्मक क्रियाओं में ही ले जाकर गिरा देगी। यदि इस प्रकार के अनुभव द्वारा हम अहंकार और अहंकारजनित क्रियाओं की सर्वनाशी दुष्प्रवृत्ति समझ जाएं और उसी के साथ-साथ हम यह भी सीख लें कि अहंकार के निरसन से मुक्ति और सृजनशीलता प्राप्त होती है—यह आवश्यक नहीं है कि यौन-अनुभव द्वारा ही उसकी प्राप्ति हो—तो हमने अहंकार को और उसकी विनाशक क्रियाओं को समझ लेने की और उससे ऊपर उठने की सही बुनियाद डाल दी है।

किसी भी अनुभूति का महत्त्व इस बात में नहीं है कि उससे हमें क्या मिलता है,

---

1 नशे के लिए सूंघा जाने वाला एक पौधे का बीज या रस

प्रत्युत वह इस बात मे है कि उसके द्वारा हमे किसी अनुभूति की सीमाओ को जानने का अवसर मिलता है और इस प्रकार हमारी और अधिक अनुभव प्राप्त करने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति फिर चाहे वह वज्रमूर्ख हो अथवा परम पण्डित, अत्यन्त दुनियादार हो अथवा अत्यन्त आध्यात्मिक, अपने अनुभव की ही बात करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव को प्रमाण मानता है। और यह प्रमाण ही श्रवण और निरीक्षण के मार्ग में बाधक बनता है। अनुभव का आयोजन मानस को यंत्रवत् और पत्थर जैसा बना देता है जिससे सृजनात्मक वास्तविकता की सभी सम्भावनाएं नष्ट हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य क्या करें ?

सर्वोच्च सत्य अन्ततः एक निषेधात्मक तत्त्व है। किसी अनुभूति के द्वारा उसका साक्षात्कार होना सम्भव नहीं। अनुभव के परे जाकर और अननुभूति की स्थिति पर पहुंचकर ही उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। जब तक तटस्थ दृष्टि से अनुभूतियों का पुनर्मूल्यांकन न किया जाए तब तक सभी साधनाओं और संयम-पद्धतियों में मूलभूत खतरा यह रहता है कि सत्य और वास्तविकता का साक्षात्कार करने के बजाय मनुष्य इन्द्रिय-संवेदनाओं के चक्र में पड़ सकता है।

सर्वोच्च तांत्रिक दर्शन के मूल्यांकन में भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी पद्धति या सिद्धान्त किसी विशिष्ट क्षण मे उपस्थित कुछ निश्चित तत्त्वो पर आधृत होता है और वह समग्र सत्य का, समग्र जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। इन पद्धतियों के अनुगमन से अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम निकल सकते है, बड़ा संतोष मिल सकता है और बड़ा लाभ हो सकता है। अस्तु मूल प्रश्न यह है कि किसी भी पद्धति के अनुगमन से फिर वह चाहे जितनी विस्तृत और परिष्कृत क्यो न हो, क्या पद्धति द्वारा सत्य का साक्षात्कार होना सम्भव है ? सत्य केवल अनुभवातीत ही नहीं है, वह अन्तर्निहित भी है। वह स्थिर या निश्चित नहीं है, अपितु वर्धिष्णु, सतत् गतिशील है, अपरिमेय है। क्या वह सर्वोच्च असीम शक्ति किसी पद्धति की सीमा के भीतर बंध सकती है, फिर वह पद्धति कितनी ही सुदृढ़ और प्रभावोत्पादक क्यों न हो ? क्या यह सम्भव है कि जीवन को किसी सूत्र अथवा पद्धति द्वारा समझा जा सकता है ? वह तो ज्यों-ज्यों प्रति क्षण आगे बढ़ता और विकसित होता है, त्यों-त्यों अधिक जागरूकता, अधिक सावधानी और अधिक सतर्कता से ही समझा जा सकता है।

जीवन का किसी सूत्र से मेल नहीं बैठता। इसी मुख्य कारण के चलते ध्यान-साधना और आध्यात्मिक क्रियाकलापों की पुरानी पद्धतियां जीवन की नित नूतन समस्याओं का समाधान निकालने में बुरी भांति असफल हुई हैं और वे मानवीय मस्तिष्क में कोई परिवर्तन नहीं ला सकीं। रूपान्तरण तो तभी होता है जब मानस सभी पद्धतियों और तत्त्वज्ञानो से ऊपर उठ जाता है, क्षण-क्षण जीवन का जो सत्य उद्भाषित होता है, उसके साथ वह एकाकार होता है और उस सत्य से उसका प्रत्यक्ष सम्पर्क आता है।

यहां चेतावनी की एक बात कह देनी है। सर्वोच्च सत्य का प्राचीन हिन्दू-विद्या के शब्दों में 'नेति, नेति' (यह नहीं, यह नहीं) इसी सूत्र के रूप में वर्णन किया जा

सकता है। परन्तु इस बात को समक्ष रखना चाहिए कि मानव-जीवन प्रकृत्या निषेधात्मक नहीं है। वह नकार और सकार की सीमारेखा पर स्थित है। वह भौतिक और आध्यात्मिक का मिलन बिन्दु है। मनुष्य धरती पर स्थिर कदमों से चलता है और अपना सिर आकाश में बनाये रखता है।

इसके अतिरिक्त जब कोई व्यक्ति ध्यान में गहरा उतरता है तो वह देखता है कि विभिन्न स्तरों पर सकार से नकार की ओर और नकार से सकार की ओर गति होती रहती है। सत्य सक्रिय है, गत्यात्मक है। वह सतत् निर्बाध गति से नकार से सकार की ओर घूमता रहता है। मानवीय चेतना के स्तर पर मानवीय मानस सकार से नकार को, दुःख से सुख को और हर्ष से शोक को पृथक् करता रहता है। यही विभाजन, यही विखण्डन तो दुःख का कारण है। कर्म अथवा जन्म-मरण का चक्र दुःख का कारण नहीं है। जीवन का मृत्यु के साथ पृथक् होना ही दुःख का कारण है। स्वयं जीवन या मृत्यु की घटना इस दुःख का कारण नहीं है। यही एकत्व, यही एकीकरण सच्चे ध्यान का अन्तिम लक्ष्य है। सकारात्मक अथवा नकारात्मक कोई काल्पनिक स्थिति प्राप्त करना उसका लक्ष्य नहीं है। विभिन्न पद्धतियों और उनके अनुगमन से किसी निष्कर्ष, लक्ष्य का सर्वोच्च निर्वाण या महाशून्य पर पहुंचा जा सकता है। उत्साहपूर्ण अभ्यास से ऐसे किसी स्थल पर स्थिर रहा जा सकता है, परन्तु यह अभ्यास सत्य का नकार है। यह तो मानवीय मस्तिष्क के सर्वोच्च बिन्दु पर प्रस्तरीकरण है। सत्य गतिशील है, गत्यात्मक है, जीवंत है और केवल वही मस्तिष्क सत्य की गति के साथ चलता रह सकता है जो जीवंत और क्रियाशील है। पूर्णता न तो कोई मूर्ति, प्रतीक है, न कोई विचार या भावना। वह है सत्य की प्रत्येक सकारात्मक और नकारात्मक प्रतीक लहर के साथ सतत्, निरन्तर घूमते चलना। यही है महामाया (सकारात्मक) का नटराज शिव (नकारात्मक) के साथ शाश्वत नृत्य। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने शिवलिंग में अत्यन्त पूर्ण प्रतीक स्थापित किया है। यह ऐसे पिरामिड या त्रिकोण के रूप में भी प्रदर्शित किया जा सकता है जिसका शिरोबिन्दु ऊपर की ओर हो। ऊपर पहुंचकर दोनों ही एक बिन्दु पर मिल जाते हैं, जब कि नीचे दोनों में पर्याप्त अन्तर रहता है। यह सकारात्मक और नकारात्मक की एकता का प्रतीक है। मनुष्य ज्यों-ज्यों ऊपर की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व आपस में मिलने लगते हैं और एक समन्वय की स्थापना करते हैं। तांत्रिक प्रतीक शास्त्र में परम शिव की गोद में विराजमान त्रिपुर-सुन्दरी द्वारा इसका बड़ा सुन्दर प्रतिनिधित्व किया गया है। अर्धनारीश्वर के रूप में शिव भगवान् का सर्वोच्च प्रकटीकरण है, जिसमें आधा स्वरूप नर का है और आधा स्वरूप नारी का।

इस तत्त्व का अन्तःप्रेरणा से दर्शन करना एक बात है, परन्तु उसकी अनुभूति करना और वस्तुतः उस स्तर का जीवन जीना सर्वथा दूसरी बात है। सच्चे ध्यान का सर्वोच्च लक्ष्य है इस आयाम को खोजना और इसी के अनुरूप जीवन जीना।

अनुभूति और अननुभूति

जीवन अनुभूतियों की एक अखण्डित शृंखला है। जीने का अर्थ ही है अनुभूति। अनुभव करना है। जीवन का एक भी क्षण ऐसा नहीं जिसमें कोई न कोई अनुभूति न होती हो। जीवन में इतनी अधिक अनुभूतियां होती है कि मस्तिष्क उन सबको ग्रहण नहीं कर सकता। फिर भी मस्तिष्क सदैव इस दौड़ में लगा रहता है कि उसे और अधिक अनुभूतियां प्राप्त हों, उसे और अधिक गहरी अनुभूतियां मिलें और उसे तथा-कथित आध्यात्मिक अनुभूतियां मिलें। प्रश्न है कि यह खोज क्या नयी अनुभूतियों के लिए है अथवा क्या यह खोज पहले की अपेक्षा अधिक तृप्तिदायक अनुभूतियों के लिए है? क्या कोई अनुभूति ऐसी भी होती है जिसे नयी अनुभूति कहा जा सकता है? क्या कोई परिबद्ध मस्तिष्क से कोई नयी अनुभूति प्राप्त कर सकता है?

हमें सारे जीवन में सतत् असंख्य स्थितियों और घटनाओं का सामना करना पड़ता है। प्रश्न उठता है कि क्या हम उनकी अनुभूति करते हैं अथवा हम केवल प्रति-क्रिया करते रहते हैं? प्रतिक्रिया की स्थिति में क्या कोई मस्तिष्क अपनी ही प्रतिक्रिया के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभूति कर सकता है? शायद वह अपनी प्रतिक्रिया की भी पूरे तौर पर अनुभूति नहीं कर पाता। जिस क्षण यह प्रतिक्रिया तीव्र और परेशानी पैदा करने वाली होने लगती है, मस्तिष्क उसे टालता है अथवा बचाव के लिए बनाये गये चालाकीभरे बहानों द्वारा उससे बचने की चेष्टा करता है। मस्तिष्क अनुभूति करने के स्थान पर बहानेबाजी के प्रयत्न मे सदा लगा रहता है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अधिकांश मामलों में मन को इस बात का पता भी नहीं रहता कि वह बहानेबाजी कर रहा है। और इस कारण यह बहानेबाजी निरंतर चालू रहती है। इस बहानेबाजी को ही हम 'जीवन' कहते हैं। इसी बहानेबाजी को हम 'अनुभूति' कहते हैं।

पूरे तौर से कोई अनुभूति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मस्तिष्क पूर्णतः शान्त और शून्य हो। सच्ची अनुभूति तो केवल तभी हो सकती है जब मस्तिष्क सभी प्रकार की स्मृतियों और कामनाओं से शून्य रहता है। ऐसी स्थिति में अनुभूति करने वाला अनुभूति में पूर्णतः डूब जाता है। तब विषय और विषयी, व्यक्ति और उद्देश्य मिलकर एक हो जाते हैं। जब अनुभवकर्ता का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, तब क्या कोई स्मृति, कोई पहचान या कोई शिनाख्त बाकी रह जाती है? क्या कोई अनुभूति दूसरी अनुभूतियों से भिन्न होती है? क्या उसमें ऐसा कोई विभाजन होता है कि

यह अनुभूति ऊंची है और यह नीचे है? अथवा यह अनुभूति आध्यात्मिक है और यह अनुभूति अपवित्र या अधार्मिक है? क्या प्रत्येक अनुभूति एक ही नहीं होती? जब किसी दिलचस्प अनुभूति में अनुभवकर्ता समाप्त हो जाता है तो उसे अपने मस्तिष्क और शरीर में एक नयी शक्तिदायक ताजगी महसूस होती है। तब उसकी व्याख्या शुरू होती है और तब अनुभवकर्ता प्रकट होता है और वह अपने-आपको शक्तिशाली बनाता है। यह व्याख्या पुरानी प्रतिबद्धताओं और पुरानी अनुभूतियों की भाषा के अनुसार होती है। नयी अनुभूति पुरानी अनुभूति में डूब जाती है और उसकी समाप्ति हो जाती है। उसकी मृत्यु हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक अनुभूति में तीन स्तर होते हैं। पहला स्तर तो वह है जिसमें अनुभवकर्ता पूर्णतः अनुपस्थित रहता है। इस स्तर में स्मृति का कहीं कोई पता नहीं रहता। अतः इसे एक प्रकार की अननुभूति का स्तर कहा जा सकता है। यह तो एक नकारात्मक स्थिति है। दूसरा स्तर अनुभूति के बाद का स्तर होता है। इसमें अनुभूति के बाद का प्रभाव रहता है, ताजगी और आनन्द का बोध रहता है। यह अनुभूति की सकारात्मक स्थिति है। तीसरा स्तर पहचान और व्याख्या का स्तर होता है। यह स्तर परम सत्यानाशी स्तर है। इसमें नयी अनुभूति झुठला दी जाती है और नष्ट कर दी जाती है। प्रत्येक अनुभूति के केन्द्रबिन्दु में सत्य रहता है। उसी के चारों ओर असत्य का मोटा पर्दा पड़ा रहता है। किसी भी परिबद्ध मस्तिष्क में पहले दो स्तर या तो क्षणिक होते हैं अथवा सर्वथा लुप्त रहते हैं—केवल तीसरा स्तर उपस्थित रहता है। मनुष्य को अनुभूति तो शायद ही कोई होती है, केवल उत्तेजना की पुनरावृत्ति अथवा किसी स्मृति का प्रक्षेपण। अतः ऐसा मस्तिष्क आंखें मूंदे और सच्ची अनुभूति प्राप्त किये हुए जीवन में असंख्य अनुभूतियों के भीतर होता हुआ चला जाता है। ऐसा मस्तिष्क मुर्दा जैसा होता है। वह टेपरिकार्डर की तरह यांत्रिक रूप में अपनी अनुभूतियों को दोहराता चला जाता है। ऐसा मस्तिष्क मृत्यु जैसी खिन्नता, बोरियत महसूस करता है और इसी स्थिति में वह नयी अनुभूतियों की खोज में लगा रहता है। इस प्रकार की खोज फिर जीवन से बचाव का एक बहाना बनती है और इसलिए अब उसके लिए नयी सच्ची अनुभूति का द्वार बन्द हो जाता है। अनुभूति खोज द्वारा नहीं मिलती। अनुभूति तो स्वतः (अपने आप) होती है जिसे खोजा जाता है। वहां उत्तेजना होती है, (सच्ची) अनुभूति नहीं। मनुष्य जब उत्तेजना के पीछे दौड़ता है और उसकी पुनरावृत्ति करता है तो व्यग्रता और ऊब आने लगती है।

इन्द्रिय-जन्य सुखों से ऊबा और असंतुष्ट मस्तिष्क स्थायी सुख खोजता है, आध्यात्मिक अनुभूतियां खोजता है। अनुभूतियों को वह सांसारिक या आध्यात्मिक कहकर विभाजित करता है। तब आध्यात्मिक अनुभूतियों की खोज उसके लालच और आत्म-तुष्टि की एक नयी वस्तु बन बैठती है। मानवीय मस्तिष्क में ऐसी क्षमता है कि वह बड़ी-बड़ी काल्पनिक कथाएं खोज निकालता है और जो मस्तिष्क आध्यात्मिक अनुभूतियों की खोज में दीवाना हो वह ऐसी काल्पनिक कथाओं की रचना करने लगता है।

लालची मस्तिष्क छिछला होता है। वह अपनी ही कृति की, अपने ही प्रक्षेपण की सत्य के रूप में उपासना करता है। ऐसा मस्तिष्क निरन्तर भ्रम मे पड़ा रहता है।

शुद्ध भौतिक या तकनीकी क्षेत्र में कुछ मात्रा में संचय या संग्रह आवश्यक होता है। परन्तु तकनीकी शिक्षण मे भी यदि मनुष्य यांत्रिक न होकर मानवीय बना रहना चाहता है तो उसमें नम्रता आवश्यक होती है। यदि तकनीकी अनुभूति के संचय पर प्रतिष्ठा या मर्यादा का महल नहीं खड़ा किया जाता तो उस संचय के कारण कोई समस्या नही खड़ी होती। परन्तु मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में अनुभूतियों का संचय अनुभवकर्ता का बल होता है और उसके अहं का निर्माण होता है। यह अहं अत्यन्त विनाशक वस्तु है क्योंकि इसके चलते सच्ची अनुभूति की सम्भावना ही लुप्त हो जाती है। इसलिए यांत्रिक अथवा भौतिक स्मृति तो बनी रह सकती है, परन्तु सच्ची अनुभूति की प्राप्ति के लिए सुख और दुःख की मनोवैज्ञानिक व्याख्या तो समाप्त ही हो जानी चाहिए। जब इस प्रकार की व्याख्या समाप्त हो जाती है तो मस्तिष्क निर्मल और निर्दोष बन जाता है। जब खोज या लालसा समाप्त हो जाती है तो मस्तिष्क सरल और लोभ-शून्य बन जाता है। ऐसा मस्तिष्क शान्ति और आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत रहता है। तब बिना बुलाये ही ऐसे मस्तिष्क में सत्य का प्रवेश होता है।

मस्तिष्क जब स्मृतियों और खोज की दौड़-धूप से मुक्त होता है, तो वह संवेदनशीलता की अत्यन्त ऊंची स्थिति मे पहुंच जाता है। वह शान्त और स्थिर हो जाता है। ऐसे मस्तिष्क के आगे मे असंख्य अनुभूतियां निकल जाती हैं, पर उनका कोई चिह्न उस पर नहीं रहता। उस पर स्मृति का कोई धब्बा नही रहता। ऐसा मस्तिष्क पवित्र और अखण्डित होता है। जब अनुभूति और अनुभवकर्ता एक हो जाते हैं तो स्मृति नहीं रह जाती। स्मृति तो अधूरी अनुभूति का अवशेष होती है। अनुभूति की सर्वोच्च स्थिति है अननुभूति। यह अननुभूति ही समग्र या पूर्ण मुक्ति होती है।

अनुभूति सुख नहीं है। किसी अनुभूति के द्वारा सुख की खोज को अनुभूति का नकार ही माना जायेगा। अनुभूति संतुष्टि भी नहीं है। संतुष्टिदायक अनुभूति तो ऐसी उत्तेजना मानी जायेगी जो आत्मसात् नही हुई है। किसी भावना, विचार अथवा औषधि द्वारा प्राप्त उद्दीपन केवल एक प्रतिक्रिया है। वह कोई सच्ची अनुभूति नहीं है। जहां तक प्रतिक्रिया का प्रश्न है, उससे मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। किसी अनुभूति की उपयोगिता अथवा सार्थकता उस बात में है कि उसके द्वारा आत्मज्ञान के द्वार खुल जाने की सम्भावना हो। अनुभूति को अननुभूति के रूप में देखना बुद्धि की परमोच्च स्थिति है।

श्रद्धा

बिना किसी प्रमाण के किसी वस्तु या तत्त्व पर विश्वास कर लेना श्रद्धा के अन्तर्गत आता है। जो व्यक्ति इस तरह विश्वास कर लेता है, उसका मस्तिष्क सरल होना चाहिए और उसमें बालक जैसी निर्दोषिता होनी चाहिए। ऐसी सरलता और निर्दोषिता से ही श्रद्धा वास्तविक रूप में विकसित होती है और पूर्णता को प्राप्त होती है। और यह बात तो है ही कि श्रद्धा अनेक चमत्कार ला सकती है, क्योंकि विचार में जब संवेग और सरलता भर जाती है तो उसमें महान् शक्ति आ जाती है।

भूतकाल में श्रद्धा ने मानव-मस्तिष्क की अनेक समस्याओं का समाधान किया है। प्राचीन अवतारों और गुरुओं ने श्रद्धा के मार्ग का उपदेश दिया और अधिकांश लोगों ने उनके उपदेशों को स्वीकार कर लिया। परन्तु पिछली दो शताब्दियों के भीतर विज्ञान तथा विवेकपूर्ण विचार की दिशा में बड़ी प्रगति हुई है। मानव-मस्तिष्क ने अपनी सीमाओं को खूब फैला दिया है और अब वह ऐसे प्रदेश में पहुंच गया है जिसका अभी तक किसी को पता भी नहीं था। इन वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगतियों ने मानवीय जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। धार्मिक क्षेत्र में तो उसने विशेष रूप से अपना प्रभाव डाला है। जीवन की तर्कसंगत पद्धति ने जो अनेक प्रश्न खड़े कर दिये हैं—उनका बिना प्रमाण के विश्वास कर लेने वाली श्रद्धा के पास कोई उत्तर नहीं है। इस कारण आज उन सभी मूल्यों की समाप्ति-सी हो गयी है जो श्रद्धा के आधार पर खड़े हुए थे। मानव-मस्तिष्क कुछ ऐसे नये मूल्यों की स्थापना करने में असमर्थ रहा है, जिनमें तर्क और श्रद्धा के बीच समन्वय स्थापित किया जा सके। मानव-मस्तिष्क की स्थिति अज्ञात सागर में बिना पतवार की नाव जैसी हो रही है। उसके सामने इस युग का सबसे बड़ा संकट चेतना का संकट है।

हाल के युग में कुछ स्वयं बने-बनाये अवतारों और गुरुओं ने कुछ नयी श्रद्धाओं की घोषणा की है और ऐसा लगता है कि उनके अनुयायी लोगों की संख्या बड़ी तीव्र गति से बढ़ती चल रही है। निराशा से पीड़ित मानव-मस्तिष्क किसी भी तिनके को मजबूती से पकड़ लेने के लिए तैयार है और प्रचार तथा विज्ञापन के सामुदायिक साधनों के चलते ऐसा जान पड़ता है कि धार्मिक भावना में पुनर्जीवन आ गया है। परन्तु यदि इस प्रचार और मनोमार्जन को अनवरत रूप से जारी नहीं रखा गया, तो शायद इसका जोश बना नहीं रहेगा। आज हो या कल, तर्क, शंका और संदेह की कुतरने वाली कानाफूसी से

नवस्थापित इन धर्म सम्प्रदाओं और दर्शनों की लुटिया डूबे बिना न रहेगी

इन चुनौतियों का सामना करने के लिए कुछ धर्मग्रन्थ, कुछ धर्म सम्प्रदायों ने वैज्ञानिक उपपत्तियों के आधार पर आत्मविद्या की व्याख्या करने की चेष्टा की है। परन्तु ये उपपत्तियां मिथ्या विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। पूर्ण सत्य अथवा समग्र वास्तविकता सदैव ही बुद्धि की सीमा से परे ही रहेगी। और इसलिए वह केवल इस सरल कारण के चलते विज्ञान और तर्क से ऊपर रहेगी कि कोई भी अंश—फिर वह कितना ही उज्ज्वल अथवा बड़ा क्यों न रहे—समग्र की प्रदक्षिणा नहीं कर सकता। प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में समस्या का निदान क्या है ?

स्पष्ट है कि इसका निदान न तो किसी सूत्र या नुस्खे में है और न किसी दार्शनिक विचारधारा मे ही है। वह तो तर्क की चरम सीमा की खोज के लिए तर्क के गम्भीर एकाग्र प्रयोग में ही निहित है। उसकी उपलब्धि केवल तब होती है जब मस्तिष्क अपनी शक्ति का पूरा उपयोग करने के बाद थक जाता है और तर्क द्वारा प्राप्त होने वाला सारा प्रकाश मंद पड जाता है। तभी वह शान्ति में विश्राम कर सकता है। केवल इसी शान्ति के भीतर वास्तविकता का प्रतिबिम्ब पड़ने की सम्भावना रहती है। इस वास्तविकता को हम सत्य, सुन्दर, ईश्वर अथवा चाहे जो नाम दे सकते हैं। उसका प्रत्यक्ष होने पर मनुष्य ऐसी नयी श्रद्धा की प्रधान कमानी खोज सकता है जो श्रद्धा, धार्मिक जीवन का एक नया भाग होगी। वह धार्मिक सम्प्रदायों की धर्मान्धता से मुक्त होगी और वह सारे मानव-समुदाय को प्रेम और मतैक्य के संयुक्त सूत्र में बांध सकेगी। ऐसी श्रद्धा जो किसी अफवाह या प्रवाद पर अथवा दूसरों की अनुभूतियों पर आधृत नहीं होगी, अपितु साक्षात्कार पर प्रतिष्ठित होगी। वह मानवीय तर्क का विरोध न करके उससे ऊपर उठ जाएगी। वह मानव जाति के भावी धार्मिक जीवन की आधारशिला बन सकती है।

दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि सरल रूप से बिना शर्त की स्वीकृति के आधार पर निर्मित श्रद्धा के स्थान पर नयी श्रद्धा अनवरत जिज्ञासा पर आधृत हो, जिसमें शंका और संदेह करने की जबर्दस्त क्षमता निहित हो। पुराने युग मे अन्त-स्फूर्त जागरूकता से श्रद्धा का जन्म होता था। अब वह गहरी अन्तर्दृष्टि तथा समग्र बोधशक्ति के आधार पर खड़ी होनी चाहिए। इसका आरम्भ आत्मजागरूकता और आत्मज्ञान से होगा। पूर्ण और सर्वांगीण कर्म तथा पूर्ण मुक्ति से उसकी परिसमाप्ति होगी। ऐसी समग्र श्रद्धा को तर्क चाहे जितना प्रयत्न करके भी काट नहीं सकेगा। ऐसी श्रद्धा ही इस युग की और भावी युग की श्रद्धा होगी। ऐसी श्रद्धा की खोज करना ही सच्चे ध्यान का लक्ष्य है।

अब हमारे समक्ष केवल दो ही सम्भावनाएं रह जाती हैं। एक तो यह कि हम सर्वोच्च संकल्पना को स्वीकार करें—श्रद्धा से, सरल भाव से, सतत् प्रयत्न से, उत्साह-पूर्ण सामीप्य से अथवा उसके साथ तादात्म्य से। इस पद्धति से हम उसका साक्षात्कार करें। इसका परिणाम आश्चर्यजनक, अद्भुत और संतोषदायक हो सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति में मनुष्य अपनी ही संकल्पना का अथवा प्रत्यय-सम्बन्धी सत्य का साक्षात्कार

करता है। दूसरी सम्भावना सतत् जिज्ञासा करते रहने की है। उसमें जो कुछ ज्ञान है, सबका अस्वीकार करते चलना है। इस मार्ग पर चलकर हम ऐसी शांति को प्राप्त कर सकते हैं, जिसमें सत्य अपने-आप प्रकट या प्रस्फुटित हो सकता है। जैसा कि पहले कहा गया है, प्रत्यक्ष और सबसे छोटा मार्ग—यदि हम इसे मार्ग का नाम दें—तो यही है कि हम जिज्ञासा, प्रश्न और अस्वीकृति की पद्धति से प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करें। अस्तु सत्य की उपलब्धि के लिए सभी शब्दों और प्रतीकों को अस्वीकार करना होगा। इसके अतिरिक्त इसमें विद्रोह की तीव्र भावना के साथ-साथ गहराई, भाव-प्रवणता और अतृप्त असन्तोष की आवश्यकता है। यदि हमारे भीतर इन गुणों का अभाव है अथवा हम इन गुणों को प्राप्त करना नहीं चाहते तो हमारे पास केवल यही विकल्प बचता है कि हम ईश्वर की सर्वोच्च संकल्पना को प्रेम और सौन्दर्य के रूप में स्वीकार कर लें और अनन्य भक्ति के मार्ग द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। यदि हमने रुपया-पैसा, धन-दौलत, प्रतिष्ठा, सामाजिक हैसियत के रूप में बाहरी सम्पत्ति जुटा ली है अथवा ग्रंथों, मंत्रों और मूर्तियों में विश्वास के रूप में आन्तरिक सम्पत्ति बटोर ली है और हम अपने इस संग्रह से मुंह मोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं, तो हमारे सामने केवल यही एक रास्ता रह जाता है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि इस पथ पर चलते-चलते हम यथासमय श्रद्धा की शक्ति को और श्रद्धा से उपलब्ध होने वाली अविनाशी सम्पत्ति को प्राप्त कर लें तथा हमारे मानस पर से भौतिक और मनोवैज्ञानिक सम्पत्ति की पकड़ ढीली होती चली जाये और हममें सर्वोच्च संकल्पना प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा जग पड़े। हमारा बड़ा सौभाग्य होगा यदि हम उस सारे जंजाल से छूटकर सर्वोच्च संकल्पना से भी ऊपर उठकर पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लें।

सर्वोच्च संकल्पना

भक्त लोग प्रायः यह प्रश्न करते हैं—"ईश्वर में मेरी श्रद्धा है परन्तु वह दुर्बल है। वह निष्कम्प लौ जैसी जलती हुई नहीं है। मैं मनन (Contemplation) में बैठता रहा हूं। मैं किसी मंत्र का जप भी करता रहा हूं, फिर भी मेरा मन इधर-उधर घूमा करता है। तो एकाग्र भक्ति का मार्ग क्या है?" यहां समझने की पहली बात यह है कि सच्ची दिलचस्पी रहने से मन एकाग्र होता है। यदि हम किसी वस्तु में पूर्णतः अनुरक्त हों तो मन कभी भी इधर-उधर नहीं भटकता। यदि हममें अपनी विचार सम्बन्धी संकल्पना की मूर्ति के प्रति पूरी श्रद्धा हो, उसके प्रति सच्चा प्रेम हो तो मन कभी-कभी अन्यत्र नहीं भटकेगा। अधिकांश लोगों के साथ यही कठिनाई होती है कि वे अपने चेतन मानस में तो ईश्वर पर विश्वास करते है परन्तु अपने अचेतन मानस में वे असंख्य संघर्ष-मय आसक्तियों से बंधे रहते हैं। यदि भक्ति-भावना को विकसित करना है तो भक्तों को चाहिए कि वे अपने अचेतन मानस को इन संघर्षमय आसक्तियों से मुक्त कर लें। इस प्रकार वे अपने अचेतन मानस को समझ सकेंगे और तब वे अपने चेतन मानस के साथ उनका तालमेल बैठा सकेंगे। ऐसा करने पर वे अपनी सर्वोच्च संकल्पना की दिशा में तेजी से आगे बढ़ सकेंगे।

साधना के लिए जहां तक सम्भव हो एक निश्चित समय स्थिर कर लेना चाहिए। उसके लिए शोरगुल और विघ्न-बाधाओं से मुक्त एक अलग छोटा-सा कमरा अथवा कमरे का कोई कोना वांछनीय है। तन-मन को शिथिल करने के लिए ठंडा और स्फूर्तिदायक स्नान सहायक होता है, यद्यपि यह परम आवश्यक नहीं है। इसके बाद किसी सुखदायक अनुकूल आसन पर बैठकर मेरुदण्ड और सिर को सीधा रखें। गहरी तालबद्ध श्वासों से आरम्भ करें। इस श्वासों पर अपना मन एकाग्र करें। इन गहरी श्वासों से दिमाग को अतिरिक्त आक्सीजन (ओषजन) प्राणवायु मिलेगी। उससे थका-वट और सुस्ती दूर होगी। साथ ही मस्तिष्क का तनाव ढीला होने में सहायता मिलेगी। गहरी सांसें लेते समय मन पर दृष्टि रखिये। आप देखेंगे कि जब तक सांस गहरी और नियमित रहती है तब तक मन इधर-उधर नहीं भटकता।

अब दूसरा कदम उठाइये। मन को सांस पर एकाग्र करना बन्द कर दीजिये और अचेतन मन को इस गहरी नियमित सांस पर अपना नियंत्रण करने दीजिये। यदि आप किसी मंत्र का जप कर रहे हैं और उसे जारी रखना चाहते हैं तो उस मंत्र को यांत्रिक

रूप में जल्दी-जल्दी मत जपिये। उसके स्थान पर उस मंत्र का मानसिक रूप से उच्चारण करिये परन्तु उसे गुंजायमान मधुर संगीतमय तालबद्धता के साथ जपिये। यह संगीतमय ताल बड़ी महत्त्वपूर्ण है। संगीत के साथ भावना सहज और सरल रूप से जुड़ जाती है। इस संगीतमय नाद को केवल सुनने का ही प्रयत्न मत करिये, बल्कि ऐसा महसूस करिये कि आपके सारे तन-मन-प्राण और अस्तित्व मे ये संगीत की लहरियां लहरा रही हैं। यदि आप सही ढंग से इतनी दूर तक बढ़ जायेंगे तो आप देखेंगे कि आपका मन अब भटकता नही है, बल्कि वह संगीत की इन लहरियो के साथ एकाकार हो जाता है।

कोई भी व्यक्ति कितनी ही देर तक इस स्थिति में रह सकता है। परन्तु हमें मन की संतृप्ति के बिन्दु से ऊपर नहीं जाना चाहिए। आरम्भ में इसमें पन्द्रह मिनट से अधिक समय न लगायें। अब मन भटकता नहीं है। मन में अब शान्ति और समरसता रहती है। इस बिन्दु पर पहुंचकर चेतन और अचेतन मानस अपना जीवन-व्यापी संघर्ष छोड़ देते हैं और दोनों परस्पर मिलकर शांत रहते हैं। हमारी सर्वोच्च संकलपना, हमारा देवता, हमारा ईश्वर हमारे अचेतन मानस का सर्वोच्च बिन्दु है। उसे हम अत्यधिक चेतन (Super-conscious) कह सकते हैं। अब हमारा इस शक्ति के साथ सम्पर्क होता है। हम इससे भयभीत न हों। हम भय-विस्मय की दृष्टि से इसकी ओर न देखें। यह तो हमारे अस्तित्व, हमारे मानस का एक अंश ही है। हमें इस शक्ति के साथ सामजस्य और एकरूपता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। ईश्वर का भय एक विनाशक अवधारणा है। ईश्वर तो प्रेम है, प्रेमस्वरूप है और भय है अलगाव। उस शक्ति से पृथक्ता का नाम है भय।

जब हम सामंजस्य और शांति की इस स्थिति पर पहुंच जाते हैं तब हमें धीरज से इस बात की प्रतीक्षा करनी चाहिए कि यह परम शक्ति हमारे साथ सम्पर्क करे। यह सम्पर्क किसी भाव, संदेश या संकेत के रूप में हो सकता है। जैसे-जैसे समय बीतेगा आप इन सम्पर्कों को समझना आरम्भ कर देंगे। कभी-कभी ऐसा अवसर आ सकता है जब अचेतन मानस की लालसाओं से इन संदेशों की विकृति हो जाये। तब सत्य और असत्य के बीच भेद करना कठिन हो सकता है। यहां एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि परम-सत्य सामंजस्य होता है और यदि कोई वस्तु हमें सामंजस्य और एकत्व की ओर, उस महत्त्वाकांक्षा की ओर ले जाती है तो वह 'सत्य' है और जो वस्तु संघर्ष पैदा करती है, वह 'असत्य' है।

मनुष्य की साधना मे ऐसा समय आ सकता है जब वह आन्तरिक नाद (अनाहत नाद) की लहरियां सुनने लगता है। इस स्तर पर वह मंत्र का जप करना छोड़ दे सकता है क्योंकि उसका उपयोग तो चेतन मन और तन को शांत करना ही होता है। जब ये शब्द सुनाई पड़ने लगें तो यह आवश्यक है कि केवल दाहिने कान से ही सुनाई पडने वाले शब्द सुने जाएं और बायें कान से सुनाई पड़ने वाले शब्दों की अपेक्षा की जाये। प्राचीन युग के सन्तो को शायद इस बात का पता था कि दिमाग (Brain) के दाहिने अर्ध-गोलक के कृत्य कैसे होते हैं और इसलिए उन्होंने साधकों को इस बात की सलाह दी कि

वे केवल दाहिने कान से ही सुन पड़ने वाले शब्दों को सुनें। इससे उन अन्तः-स्फूर्तिमय और अनुबोधक क्षमताओं के विकास में सहायता मिलेगी जिनके साथ दिमाग का दाहिना अर्धगोलक सम्बद्ध है। इसके बाद साधकों को वह नाद सुनना चाहिए जो नीचे हृदय केन्द्र की ओर, फिर नाभि केन्द्र की ओर जाता है। तब मनुष्य एक ऐसे बिन्दु पर पहुंचता है जिससे उसका सम्पूर्ण शरीर उस नाद की लहरियों से लहराता जान पड़ता है। इस बिन्दु पर पहुंचकर यह बात सरलता से समझ में आ जाती है कि शरीर केवल स्थूल द्रव्य या जड़ वस्तु नहीं है, वह स्पन्दनशील, थर्रानेवाली शक्ति है। कोई व्यक्ति शरीर के भीतर निवास करने वाली इन शक्तियों की गतिविधि पर नियंत्रण कर ले तो उससे भौतिक शारीरिक स्वास्थ्य और कल्याण की वृद्धि में सहायता प्राप्त होगी।

जैसा कि ऊपर बताया गया है इस आन्तरिक नाद को, इस भीतरी संगीत को सुनने के लिए तन-मन को उचित संग्रहणशील स्थिति में होना चाहिए। इन आन्तरिक लहरियों को ठीक ढंग से समझ लेने पर आन्तरिक यात्रा मे तेजी से निर्विघ्नतापूर्वक आगे बढने में बडी सहायता मिलती है। ये लहरियां उत्तम संगीत की लहरियों की भांति भी आध्यात्मिक होती हैं। वे तन-मन से विधिवत् कार्य करने के लिए जिन-जिन परिवर्तनो की आवश्यकता होगी उन्हें स्वयं ले आयेंगी। एक बात और। नाद-श्रवण के प्रति हमारा जैसा रुख होगा उसी पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। यदि तरंगहीन और शान्त मन से बिना कोई अर्थ या प्रतिबन्ध लगाये इन नादों को सुना जाये तो मन इन नादों से भी ऊपर उठ सकता है।

आप यदि किसी मंत्र का जप नही कर रहे हैं और सरल तनावहीन ध्यान करना चाहते हैं तो आप अपने समग्र व्यक्तित्व द्वारा शांति और सामजस्य की भावना महसूस करने का प्रयत्न करिये। शांति और संतुलन की स्थिति में कल्पना और भावना मे एक ऐसी शक्ति आ जाती है जिसका कि सामान्य चेतन के स्तर में कोई पता नही लगता। तनावहीन ध्यान करते समय यह बात स्मरण रखना परम आवश्यक है कि मन को इच्छाशक्ति द्वारा किसी विशेष बिन्दु की ओर नहीं ढकेलना चाहिए। कुछ साधना सम्प्रदाय ऐसी सलाह देते हैं कि दोनों भौंहों के मध्य मे अथवा नासिका के सिरे पर ध्यान को एकाग्र करना चाहिए। आंखों को जब इन बिन्दुओं पर एकाग्र किया जाता है तो प्रकाशीय नस नाड़ियों में उत्तेजना या उद्दीप्ति पैदा होती है जिससे अनेक प्रकार के प्रकाशों और रंगों के संवेदन उत्पन्न होते हैं। परन्तु एकाग्रता की यह जबर्दस्त शक्ति मन के भीतर विरोध की भावना उत्पन्न करती है जो कि वांछनीय नहीं है। इसलिए आखों को तनावशून्य और स्थिर रखना चाहिए। यदि आंखों को बन्द रखना हो तो उन्हें शिथिल या तनावशून्य रखने का एक उत्तम उपाय यह है कि ऐसी कल्पना की जाये कि आंखों के आगे एक नीला प्रकाश फैला है। इससे वे स्वतः अचल और स्थिर हो जायेंगी। कभी-कभी अनेक प्रकार के प्रकाशों की अनुभूति हो सकती है; परन्तु इन प्रकाशों का कोई बड़ा मूल्य नहीं है। फिर भी यदि ऐसी कल्पना से कोई सहायता ले ली जाये तो उसमें कोई बुराई भी नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति साधना कर सकता है बशर्ते कि वह यह समझ ले कि इस प्रकार से प्राप्त होने वाला सम्पर्क सर्वोच्च सत्य या तथ्य से नहीं प्राप्त होता। वह अचेतन मानस के सर्वोच्च बिन्दु से अथवा नादों के संसार से प्राप्त होता है। यह यात्रा मानसिक या मनोविषयक अथवा अन्तर्दृष्टि के स्तर की होती है, जो कि चेतन और अचेतन मन की पहुंच के परे सच्चे आध्यात्मिक स्तर से भिन्न है। इस साधना का लाभ यह है कि इस शक्ति के साथ सम्पर्क साधने के बाद जब हम किसी संकट में होते हैं और हमारे सामने कोई ऐसी समस्या आ जाती है जिसका समाधान निकालने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं, तो हम अपनी यह समस्या उसके समक्ष उपस्थित कर सकते हैं। यदि हम ऐसा महसूस कर सकें कि इस शक्ति ने हमारी यह समस्या अपने हाथ में ले ली है और इस बात को हम अपने मन में स्थिर कर लें तो यथासमय हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि यह समस्या बड़ी सरलता और कुशलता से हल हो गई है। जीवन की कोई भी ऐसी समस्या नहीं है जो इस प्रकार हल न की जा सके। अस्तु, यहां चेतावनी की एक बात कह देनी है। हम एक परम पवित्र क्षेत्र में चल रहे हैं। हम अपने अस्तित्व के आन्तरिक मन्दिर में हैं। हमें चाहिए कि हम प्रत्येक वस्तु को स्वच्छ मन से ही स्पर्श करें। हम इसे खेल की वस्तु न बनायें। कारण, इस शक्ति का दुरुपयोग करने पर बहुत भारी दण्ड मिलता है। ऐसी आशा है कि इस सौंदर्य और शक्ति की अनुभूति कर लेने के बाद मनुष्य ऐसा समझने लगता है कि बाहरी अथवा भीतरी सारी सम्पत्ति हमारे भीतर रहने वाले सूत्र से ही आती है। इस अनुभूति के प्राप्त होने पर हमारी लोभ और संचय की वह भावना मिट सकती है, जिससे हम अभी तक लम्बे काल से पीड़ित होते आये हैं। इससे जीवन की असुरक्षा और भय की भावना सर्वथा लुप्त हो सकती है, क्योंकि इस स्थिति तक पहुंचते-पहुंचते हम यह समझ जाते हैं कि भय और असुरक्षा की भावना विचार के कारण आती है और यह विचार अपने-आपको इस परमोच्च शक्ति से दूर रखता है।

इतनी दूर जाकर अचेतन मानस की शक्तियों को देखकर हमें इन सभी शक्तियों से वितृष्णा हो सकती है और तब हम सबसे मुंह मोड़कर उस परमोच्च सत्य को खोजने के लिए अन्तिम छलांग में पार कर सकते हैं जो चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के मन के परे है और जो सारे ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियों का चरम सूत्र है।

अचेतन मानस के भिन्न-भिन्न स्तरों से होकर आगे बढ़ते समय यह स्मरण रखना अच्छा होगा कि एक अनुभव के बाद दूसरा अनुभव काल-क्रमानुसार होता चलता है। फिर भी हमें अपनी प्रगति और गतिविधि को नापकर मनोवैज्ञानिक काल-का निर्माण नहीं करना चाहिए। हम जब तक अचेतन मानस की भूलभुलैया में चक्कर खा रहे हैं तब तक कोई वास्तविक गतिविधि होती ही नहीं। यह सब हमारे स्वयं के भीतर स्थित है। आज हम सर्वोच्च चोटी पर पहुंचते हैं और कल ही लड़खड़ाकर नीची घाटी में जा गिरते हैं, परसों हम फिर ऊपर चढ़ने लगते है। यह एक पहाड़ी यात्रा की तरह है जिसमें कभी कुहासा है, कभी कुहरा, कभी उतार है, कभी चढ़ाव।

सच्ची आध्यात्मिक यात्रा तो शायद तब शुरू होती है जब अचेतन के व्यापक

दृश्यपटल की सारी शक्तियों और सिद्धियों में हमारी कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती। इस महान् असन्तोष के फलस्वरूप और उस शून्य के फलस्वरूप जो हमारे यह समझ लेने पर आती है कि मन की सीमाओं से पार जाने के हमारे सारे प्रयत्नों, सारी प्रक्रियाओं और सारी पद्धतियों की एक सीमा है, इस जागरूकता के फलस्वरूप हमारे अपने भीतर एक विस्फोट होता है। हम चलना बन्द कर देते हैं। और स्थिरता में, इस शांति में वह परमोच्च सत्य, वह परमोच्च वास्तविकता हमारे समक्ष आ खड़ी होती है। तब सच्ची आध्यात्मिकता का श्रीगणेश होता है।

मानवीय मानस और उसकी गठन

मानवीय मानस वस्तुतः पुरानी स्मृतियों और अनुभवों का भण्डार है, फिर वे चाहे चेतन मानस की हों चाहे अचेतन मानस की, चाहे व्यक्तिगत हों, चाहे सामूहिक। उसी में से विचार का जन्म होता है। उसमें अपने पशु जीवन के अस्तित्व से लेकर अब तक के विकास की सारी प्रक्रिया में विरासत से मिले सारे नैसर्गिक भय और संवेग भरे रहते हैं।

मानवीय मानस का वैशिष्ट्य क्या है ? क्या विचार ही नहीं है ? विचार से ही तो हमें इस बात का संज्ञान होता है कि मानस जैसी कोई वस्तु होती है। यदि विचार नही है तो मन भी नहीं है। ऐसा हम जानते-मानते हैं। स्मृति से उत्पन्न शब्दों या प्रतीकों का सम्मिश्रण ही तो विचार है। स्मृति भूतकाल होती है। हाल की खोजो से[1] पता चला है कि स्मृति प्रकृत्या रासायनिक है। अतः वह यांत्रिक और भौतिक है। स्मृति की यह भी प्रकृति है कि वह चुनाव करती है और सुख-दुःख के सिद्धान्त पर आधृत है। जो वस्तु सुखदायक प्रतीत होती है उसका पोषण किया जाता है, उसकी रक्षा की जाती है और वह स्मृति के भण्डार मे जमा कर ली जाती है। परन्तु जो वस्तु दुःखदायक प्रतीत होती है वह दबा दी जाती है और अचेतन के स्तरों मे ठेल दी जाती है। अतः स्मृति प्रतिबद्ध होती है। वही दशा उससे उत्पन्न होने वाले विचार की होती है। विचार का चाहे जितना संशोधन कर लिया जाये अथवा उसका विस्तार कर लिया जाये वह सदैव अनुकूलित, पुराना और यांत्रिक ही रहेगा।

जीव विज्ञान की दृष्टि से मानव के सारे शरीर का ढांचा जिसमे (Brain) दिमाग भी शामिल है —जीवित बने रहने के, अनुजीवन के मूल कार्य के अनुसार अनुकूलन करता है। शरीर के अचेतन प्रति भाव भी उसी दिशा में जाते है। चेतन स्तर पर जब शिक्षण की प्रक्रिया आरम्भ होती है तो भौतिक अनुजीवन के स्थान पर मनोवैज्ञानिक अनुजीवन पर अधिक बल दिया जाने लगता है। इस स्थिति पर पहुंचकर सुख को बढ़ाने और दुःख को टालने की भावना आती है। भौतिक स्तर पर सुख और दुःख जीव

---

1. ह्यूस्टन के बेलर मेडिकल कालेज के डा० आर्ज अंगर का दावा है कि उन्होने एक ऐसा रसायन अलग किया है जो अन्धकार के भय का प्रतिनिधित्व करता है। (जर्नल आफ दि इण्डियन मेडिकल एसोसियेशन 2/96/79 or 2/16/71)

विज्ञान सम्बन्धी रक्षण कार्य करते हैं, परन्तु मनोवैज्ञानिक स्तर पर इस भावना के चलते 'मैं' और 'मुझे' का मनोवैज्ञानिक केन्द्र बनता है और पुष्ट होता चलता है। यह केन्द्र 'मैं' के मूल विचार को केन्द्रबिन्दु बनाकर विकसित होता है। वह अपने चारों ओर प्रतिबद्ध प्रतिवर्त एकत्र कर लेता है जो मनोवैज्ञानिक सुख के आधार पर खड़े होते हैं। इस विकास के आरम्भिक काल में ये मनोवैज्ञानिक सुख व्यक्ति के शारीरिक या भौतिक कल्याण से संघर्ष करने लगते हैं।

सरलतम स्तर पर शिक्षण और अनुबन्धन अविभाज्य प्रक्रियाएं हैं। शुद्ध भौतिक स्तर पर शिक्षण में प्रतिबद्धता आ जाती है। परन्तु मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रतिबद्धता का शिक्षण से संघर्ष होने लगता है। प्रतिबद्धता जैसे-जैसे पुष्ट होती है वैसे-वैसे शिक्षण समाप्त हो जाता है और मानव-मन का प्रस्तरीकरण हो जाता है। तब मन केवल तन से ही संघर्ष नहीं करता अपितु अपने-आप से भी संघर्ष करने लगता है। मनोवैज्ञानिक सुख अविभाजित सम्पूर्ण नहीं है। एक सुख की दूसरे सुख से टक्कर होती है और उससे मन अपने में संघर्षरत हो जाता है। आज मानव-मन का ढांचा प्रतिबद्धता पर खड़ा है। प्रतिबद्धता अपने में पुनः-पुनः शक्ति भरती है और आचरण के कटाव के सांचे के सांचे खड़े करती है जिससे स्वतंत्रता और सच्ची प्रसन्नता नष्ट हो जाती है। दिमाग में कोई जन्मजात यांत्रिकता नहीं रहती जो प्रतिबद्धता की प्रक्रिया को उलट-पलट दे। प्रतिबद्ध मानस किसी प्रयत्न या प्रक्रिया के द्वारा अपने को प्रतिबद्धता से मुक्त नहीं कर सकता। प्रतिबद्धता के नष्ट होने का एकमात्र उपाय है किसी विस्फोट या आघात-प्रघात का लगना। जीवन इस प्रकार के आघात प्रतिदिन बड़ी संख्या में उपस्थित करता रहता है। यदि कोई मनुष्य मनोवैज्ञानिक रीति द्वारा अपने को ऐसी स्थिति में से बचा नहीं लेता और वस्तुस्थिति का डटकर सामना करता है तो उसमें प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो प्रतिबद्धता को खण्ड-खण्ड करके उड़ा देती है और मानस में नया जीवन ले आती है। यदि मनोवैज्ञानिक सुख हस्तक्षेप न करें तो दिमाग और शरीर सतत् अपने में नव-शक्ति का सचरण करने लगेंगे।

सामान्य रूप से विचार घर्षण और संघर्ष उत्पन्न करता है और वह दिमाग की शक्ति को घटाता है। दिमाग के कोषाणु जीर्ण-शीर्ण और बूढ़े होते जाते हैं। अतः ताजा, स्फूर्तिमय, शक्तिशाली और तरुण मानस प्राप्त करने के लिए हमें मनोवैज्ञानिक विचार का अर्थ और महत्त्व खोजना पड़ेगा। उसके मुख्य केन्द्र का पता लगाना होगा और यह देखना पड़ेगा कि उसकी समाप्ति हो सकती है या नहीं। दूसरी बात यह कि हमें यह खोजना पड़ेगा कि क्या कोई अन्य प्रकार का विचार है जो ध्यान करने वाले शान्त दिमाग की शक्ति में हस्तक्षेप न करे? यदि हम इस प्रश्न की गहराई में उतरेंगे तो हम देखेंगे कि ये दोनों सम्भावनाएं केवल परिकल्पना ही नहीं हैं, अपितु वस्तुतः अनुभव करने योग्य स्थितियां हैं। यह अनुभूति अभ्यास और आध्यात्मिक साधना की लम्बी यातनापूर्ण प्रक्रिया के अन्त में प्राप्त न होकर हमें अभी तत्काल इसी क्षण प्राप्त होने लगेगी- जैसे ही हम पूरी शक्ति और के साथ इस खोज में रुचि लेने लगेंगे

यह स्पष्ट है कि स्फूर्तिमय, ताजे, शक्तिशाली और शून्य मानस में से नयी वस्तु को देखने और समझने की क्षमता होती है। क्या इसके लिए अन्य कोई सम्भावना हो सकती है ? क्या संघर्षशील विचारों से थका-पिटा मानस किसी नयी समस्या को समझने और सुलझाने की क्षमता रख सकता है ? स्पष्ट है कि ऐसा सम्भव नहीं है। अतः हमारी तात्कालिक समस्या यह है कि हम यह खोजें कि क्या विचार को समाप्त किया जा सकता है और हम यह भी पता लगायें कि क्या यह सम्भव है कि हम शांत और शक्तिशाली ध्यानस्थ मन से अपना दैनन्दिन जीवन जी सकते हैं ? ऐसा सक्रिय शक्तिशाली जीवन जीने के लिए हमें उस प्रकार के विचार (Thought) को खोजना पड़ेगा जो इस प्रकार का जीवन जीने के लिए आवश्यक है और जो मन की शक्ति को नष्ट नहीं करता।

विचार के अर्थ और उसकी प्रकृति की खोज करते-करते एक बड़ी दिलचस्पी की बात होगी यदि हम उन वैद्युतिक परिवर्तनो को देखें जो इलेक्ट्रोएन्सेफलोग्राफ (Electro-encephalograph) विद्युत् द्वारा मस्तिष्क एक्स-रे यंत्र पर इस बीच अंकित होते चलते है। चेतना की चार अवस्थाओं के अनुरूप ऐसे मूलतः चार प्रकार होते है। पहली अवस्था वह है जिसमे पूर्ण मानसिक और शारीरिक शांति रहती है। इसे अलफा (Alpha) तरंगों द्वारा बताया जाता है। ये प्रति सेकेण्ड से लेकर 13 चक्कर लगाती है और इसमें 50 माइक्रोवोल्ट का वोल्टेज रहता है। यदि शिथिल ध्यान की स्थिति होती है और यह स्थिति उस समय सरलता से प्राप्त हो जाती है जब हम शरीर को स्थिर और ढीला रखकर किसी अन्धेरे या आधे अन्धेरे कमरे मे आखे मूंदकर बैठते है। इस स्थिति मे यह विशेषता है कि हमे बड़ी शान्ति, निश्चलता और प्रफुल्लता प्राप्त होती है। यह सम्भवतः मानवीय मानस की मूल स्थिति है। इसके द्वारा इन दो प्रकारों में से एक प्रकार आ सकता है—या तो जागरूकता की स्थिति आ जाये जिसमे बौद्धिक या भावनात्मक क्रिया होने लगे अथवा गहरी शांति की स्थिति आ जाये जिसमे नींद और गहरी नींद आने लगे। मानस जब बौद्धिक या भावनात्मक क्रिया में जाने लगता है तो अलफा तरंगो के स्थान पर बेटा (Beta) तरंगें आ जाती है जो प्रति सेकेण्ड .13 से अधिक चक्कर देती हैं और उनमें 20 से 25 माइक्रोवोल्ट से घटा वोल्टेज रहता है। इस प्रकार विचार-शक्ति से गति तो बढ़ती है परन्तु वोल्टेज पहले से घटता है। इस बात से यह पता चलता है कि प्रतिरोध और संघर्ष की मात्रा बढ़ रही है। दूसरी ओर ध्यानस्थ स्थिति में जब शान्ति और अधिक गहरी होने लगती है तो गति और अधिक घट जाती है। वह प्रति सेकेण्ड 4 से लेकर 8 चक्र के बीच में आ जाती है और उधर वोल्टेज 100 या 150 माइक्रोवोल्ट थेटा (Theta) तरंगों तक बढ़ जाता है। गहरी नींद या चैतन्य शून्यता मे गति (Narcosis) प्रति सेकेण्ड .5 और 3.5 चक्रों के बीच रह सकती है और वोल्टेज बढ़कर 250 या 300 माइक्रोवोल्ट डेल्टा (Delta) तरंगों में हो जाता है। निद्रा की स्थिति निष्क्रिय होती है और सामान्य मानव-मन मानसिक शांति का अभ्यस्त नहीं रहने से जल्दी ही नींद की स्थिति में चला जाता है। अस्तु ध्यान के द्वारा मन की

और शक्ति जैसे-जैसे बढ़ती है वैसे-वैसे मन इस गहरी शांति में सरलता से स्थिर रह सकता है। जब वोल्टेज लगातार ऊंचा रखा जाता है तो वह स्थिति आ जाती है जिसमें विस्फोट या स्फुलिंग की सम्भावना रहती है।

मानव के मानस मे प्रतिदिन अनेक विस्फोट होते रहते है। उन्हें दो प्रकारो में बांटा जा सकता है। एक प्रकार तो वह है जिसमें यह विस्फोट मानव-मस्तिष्क के एक छोटे कोने में सीमित और सकुचित चेतना के सकारात्मक क्षेत्र में होता है। तीव्र इच्छा से, संवेग से, औषधियों से या विचार को एकाग्र करने की विभिन्न पद्धति से यह विस्फोट होता है। सगीत अथवा व्यग्र कीर्तन की सगत से तीव्र और गहरी श्वास द्वारा विचार को सुलाकर भी यह विस्फोट हो सकता है। ऐसे विस्फोटों से चेतना का व्यापक विस्तार किया जा सकता है और छुटकारे की परिणामी भावना लाई जा सकती है। परन्तु ऐसे विस्फोट मानव-मस्तिष्क के बहुत छोटे अंश में होने के कारण वे मानव-मस्तिष्क को 'अहं' के दायरे से बाहर नहीं ले जा पाते और वे केवल प्रशासक औषधियों का ही काम करते हैं। अथवा बहुत हुआ तो वे दुःख से बचने के प्रशासक बहाने बनकर रह जाते है। वे 'मैं' और 'मेरे' की मूल समस्या का निराकरण करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकेंगे।

दूसरे प्रकार का विस्फोट जैसा कि पहले बताया जा चुका है—शांत ध्यानस्थ मानस मे नकारात्मक क्षेत्र में होता है। इसमे चेतन और अचेतन दोनो ही मानस शून्य हो जाते हैं अथवा दुःख की स्थितिमें यदि हम शब्द जाल मनोरंजन, मद्यपान, औषधि सेवन और यौनक्रिया जैसे बचाव के सारे रास्ते बन्द कर दें तो हम दुःख का प्रत्यक्ष सामना कर सकते हैं। यदि हम इसके सम्बन्ध में कुछ भी न करे और केवल उसी के साथ जियें—पूरे तौर से और गहराई से उसकी अनुभूति करें—तो दुःख की बोतल मे बन्द की हुई इन नकारात्मक शक्तियो मे एक विस्फोट होगा। यह मानव-मस्तिष्क की क्षमता का सबसे बड़ा विस्फोट होगा। इसमे से दुःख का अथवा नकारात्मक मौन का अपरिवर्तनीय समग्र रूपान्तरण होना प्रेम तथा सौंदर्य की सकारात्मक स्थिति में रूपान्तरित हो जायेगा। यह प्रेम एकसाथ वैयक्तिक भी है, अवैयक्तिक भी। व्यक्तिगत भी है और सार्वदेशिक भी। इस प्रकार समग्र बुद्धि के एक नये स्वरूप का जन्म होता है।

जैसा कि प्रत्येक विस्फोट में होता है, उसमे से तरंगें निकलती है और व्यक्तिगत मानस समग्र ब्रह्माण्ड के सम्पर्क में आ जाता है। इस प्रकार व्यक्तिगत मानव-मन के परिवर्तन सारी मानव जाति को प्रभावित करते हैं। उसके लिए मौखिक सम्पर्क की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। यह है जीवन का सर्वोच्च चमत्कार। बड़ा अभागा है वह मानव जिसने चेतना की इस स्थिति का आविष्कार नहीं किया। जब इस स्थिति की अनुभूति होती है तभी मनुष्य वस्तुतः मुक्त होता है—किसी विशेष वस्तु या घटना से नहीं, अपितु भीतरी और बाहरी सारे पर्यावरण से वह मुक्त होता है। तब वह जीवन की किसी भी स्थिति का डटकर सामना कर सकता है।

पूर्ण शान्त मन

सत्य को बिना किसी विकृति के अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि मन सभी प्रकार की इच्छाओं, प्रेरणाओं और भयों से पूर्णतः शून्य हो। यह स्थिति न तो किसी प्रकार की जबरदस्ती से लादी जा सकती है और न किसी प्रकार के दमन से ही लायी जा सकती है। उसे लाने का उपाय यही है कि सरल जागरूकता से प्रत्येक विचार या भाव को देखते रहा जाये। न तो उसकी निन्दा की जाये न उसका समर्थन, न उसे न्यायसंगत ठहराने का प्रयत्न ही किया जाये। यदि इस जागरूकता को किसी भाव से प्रेरित हुए बिना अपना कार्य करना है तो यह नियंत्रण, ये सेंसर सर्वथा शांत और निष्क्रिय होना चाहिए। यह बात समझ लेनी चाहिए कि मन में शांति लाने के लिए अथवा विचारों से पूर्णतः छुट्टी पाने के लिए किसी पद्धति के रूप में जागरूकता का अभ्यास नहीं करना है। ऐसा रुख तो निन्दापूर्ण ही माना जायेगा। इसके कारण मन मे तत्काल ही प्रतिरोध उठ खड़ा होगा। भाव यह है कि उस पदार्थ को केवल देखते रहना है जिसका नाम 'मन' है। यदि हम तथ्यों का ठीक-ठीक सही ढंग से निरीक्षण करने और उनकी खोज करने में रुचि रखते हैं तो हम शीघ्र ही देखेंगे कि मन के भीतर विचारों की गतिविधि और उनकी अनुक्रमणशीलता वस्तुतः बड़ी धीमी हो चली है। यह निरीक्षण, यांत्रिक रूप से करना और मानस में विचारों के उठने का क्रम ही देखते रहना ही पर्याप्त नहीं है। हमें प्रत्येक विचार पर यह दृष्टि भी रखनी है कि उसकी विषयवस्तु क्या है, उसका कारण क्या है, उसका अर्थ क्या है? इसका उद्देश्य यह है कि हम प्रत्येक विचार को पूर्णरूप से समझें। यदि पूरी तत्परता और पूरी रुचि के साथ ऐसा ध्यान-मनन-चिन्तन किया जाये तो हम शीघ्र ही देखेंगे कि हमारा मन शांत होता जा रहा है। वह शान्ति की स्थिति सहज और स्वाभाविक है तथा उसके किसी स्तर पर कहीं भी कोई संघर्ष नहीं है। सम्भव है इस बीच कुछ स्मृतियां या विचार यांत्रिक रूप मे सामने आयें पर वे भी इस शान्ति मे कोई हस्तक्षेप नहीं कर रहे हैं।

इस शांति में ही रहते हुए हम विभिन्न बाहरी वस्तुओं या तथ्यों की ओर देख सकते है अथवा मन स्वयं अपनी ओर देख सकता है और शांति तथा स्थिरता के गुण की अनुभूति कर सकता है। इस स्थिति में न तो कोई दृष्टा रहता है न कोई दृश्य। केवल शांति की सरल जागरूकता रहती है।

साधक को आरम्भ में यह सलाह दी जा सकती है कि वह एक कुर्सी पर बैठे

अथवा जमीन पर किसी सरल और सुखद आसन पर बैठें और मेरुदण्ड, गर्दन और सिर को सीधा रखें। यह आवश्यक नहीं कि सिद्धासन या पद्मासन में ही बैठा जाये। इन आसनों का अपना एक निश्चित मनोवैज्ञानिक और शारीरिक लाभ हो सकता है, परन्तु लम्बी अवधि में हम बाहरी सहायताओं पर जितना कम निर्भर रहें उतना ही अच्छा होगा। हम शरीर को स्थिर कर बैठें। आंखें हम खुली भी रख सकते है, बन्द भी कर सकते है—जैसा भी हो, सुविधाजनक लगे। हम थोड़ी देर गहरी तालमय सांसें लें, जिससे तन और मन दोनों को शिथिल और तनावशून्य करने मे सहायता मिलेगी। हम जैसे ही अपनी आंखें बन्द करेंगे वैसे ही हम देखेंगे कि मन इधर-उधर भटकना शुरू कर देता है। हम मन पर कोई जोर न डालें। प्रेम और सावधानी से हम केवल उसकी गतिविधियों को देखते रहें—मानो हम किसी फूल को देख रहे हों। इस समय कुछ अप्रिय विचार भी उठ सकते है, पर हमें यह समझ रखना चाहिए कि यह हमारा मन है। यह जैसा भी है, है, और जब तक हम अपने वास्तविक स्वरूप को न देख लें तब तक हम न तो मुक्त ही हो सकते हैं और न प्रसन्न ही हो सकते हैं। एक बार जहां हमने इस प्रकार देखना आरम्भ किया, वहां अचेतन में दबे पड़े हुए अनुभव अपने को उघाड़ना शुरू कर देंगे। अतः यह निरीक्षण केवल महान् शक्ति ही उत्पन्न नहीं करता, अपितु अचेतन मन के भार को भी हल करता है। इस प्रकार बिना किसी अवरोध और विकार के हम अपने को, अपने सारे चेतन और अचेतन मन को भली-भांति जान जाते हैं। यह ध्यान वह काम करेगा जिसका कि कितने ही बड़े मनोविश्लेषण से आशा नहीं की जा सकती। यह यात्रा अन्तहीन यात्रा है, ठीक वैसी ही जैसी कि सत्य की यात्रा अन्तहीन होती है। यह सतत् खुली रहती है। नित नूतन रहती है और दिक्काल के बन्धनों से परे रहती है। यदि एक बार इस स्थिति को खोज लिया जाये तो आधुनिक जीवन की अनेक कष्टदायक खिझाऊ समस्याएं सरलता से हल हो जाएंगी। ऐसे सावधान, शक्तिशाली और बुद्धिसम्पन्न मन के रहते कोई भी समस्या इतनी बड़ी या इतनी जटिल नहीं होगी, जिसका समाधान न निकाला जा सके।

मानवीय विकास की प्रक्रिया के दौरान पशु जीवन के अनेक संवेग और पशुओं की मूल प्रवृत्तियां पृष्ठभूमि में धकेल दी गई थीं। उसी प्रकार जब निरन्तर बुद्धि से शासित खंडित मानव-मन योगयुक्त होगा तो बुद्धि को उसके उचित स्थान पर पहुंचा दिया जायेगा। इस अनुभूति के बाद ही सत्य या वास्तविकता की प्राप्ति के लिए ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग के मार्ग अत्यन्त अपर्याप्त प्रतीत होंगे। एक के बाद एक करके विभिन्न टुकड़ों को जोड़ने का प्रयत्न कभी भी एकीकरण नहीं ला सकेगा। इस प्रकार जिस जोड़ की अनुभूति होगी वह भी आंशिक और अधूरी ही होगी।

आज के जटिल जगत् मे बिना किसी मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के, बिना किसी घर्षण या संघर्ष के मनुष्य किस प्रकार सुखमय जीवन बिता सकता है, यह बात तब केवल कोरी कल्पना की बात न रहकर एक वास्तविकता बन जायेगी, जिसकी अनुभूति तत्क्षण, तत्काल की जा सकेगी। इस ध्यान (Meditation) के लिए दिन के किसी निश्चित

समय पर उपयुक्त अनुशासन अथवा धर्म-कर्म विधि करने की आवश्यकता न होगी। इसमें केवल पूरे मनोयोग से प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण मात्र करना होगा। यह तो जीवन जीने का मार्ग होगी। इसके लिए यह कहा जा सकता है कि तीव्र बौद्धिक प्रक्रिया के कुछ क्षणों को छोड़कर सारा जीवन ही तब ध्यान बन जायेगा। उस प्रक्रिया के समाप्त होते ही मन फिर अपनी वास्तविक ध्यानस्थ स्थिति में लौट आयेगा। अब फिलासफी (Philosophy)—तत्त्वज्ञान और दर्शन—इन दो शब्दों का सही अर्थ प्रकट होगा। 'फिलासफी' शब्द का सही अर्थ कोई काल्पनिक पद्धति न होकर सत्य का प्रेम होगा। उसी प्रकार दर्शन जो कि संस्कृत में फिलासफी का ही पर्याय माना जाता है और शाब्दिक रूप में जिसका अर्थ 'देखना' है, उसे ठीक उसी प्रकार समझा जा सकेगा जैसे कि समझना चाहिए।

जीवन एक गति है, एक अन्तहीन प्रक्रिया है। इस गति में जिसे हम 'जीवन' कहते हैं, कभी-कभी ऐसे क्षण आ जाते हैं जब पूर्ण स्पष्टता होती है, पूरी समझदारी, तथा शंका और सन्देह का कहीं पता भी नहीं रहता। इस नवोदित ज्ञान और प्रकाश को प्राप्त करने के क्षण-भर बाद ही हम यह महसूस करते हैं कि अभी तक जिसे सही मानते रहे वह गलत था, जिसे ज्ञान मानते थे, वह अज्ञान था। परन्तु अब हम जो जानते हैं केवल वही सत्य है। इस क्षण में जब हम अपने को समझने लगते हैं और अपने इस नवोदित ज्ञान में स्थिर होने के प्रयत्न में लगते हैं, तब तक जीवन की लहर मीलों आगे निकल जाती है और हम फिर धाराहीन कुंड में पड़ जाते हैं। यहां से भ्रम आरम्भ होता है। इसी क्षण अज्ञान का बीज बो दिया जाता है। यदि आत्मतुष्टि के लिए मन इस भावना से हतबुद्धि हो जाता है कि मैं साक्षात्कारी पुरुष हूं और यदि लोग हमारी पूजा-प्रतिष्ठा करने लगते हैं और हम अनेक सदाशयी प्रशंसकों की भीड़ से घिर जाते हैं, तो यह निश्चित है कि इस एक सतत् भ्रमपूर्ण आत्मवंचना के भ्रष्ट जीवन में गिर जायेंगे। हमारा पतन हो जायेगा। ऐसा नहीं है कि सत्य प्रेमपूर्ण और करुणामय नहीं है और वह हमारे पास दुबारा नहीं आयेगा। परन्तु जब हम इतने महान् बन जाते हैं और नाम तथा प्रशंसा की ऊंची गद्दी पर बैठ जाते हैं तो इस सत्य के प्रवेश के लिए मार्ग ही कहां छोड़ते हैं। सत्य शायद छोटे-छोटे छिद्रों से ही धरती के स्तर से ही हमारे पास आ सकता है परन्तु सम्भावना ऐसी ही है कि हमें फिर उसके दर्शन नहीं हो पायेंगे।

यह कहीं अच्छा होगा कि हम सत्य के सम्बन्ध में कोई भाव न रखें और न यह सोचें कि वह किन सूत्रों से आ सकता है। हम स्वयं को इस कल्पना से न बांधें कि वह किसी परम ज्ञानी पण्डित अथवा गुरु से प्राप्त हो सकता है अथवा किसी विशिष्ट धर्म-ग्रन्थ से मिल सकता है। यह भूतकालीन या वर्तमानकालीन किसी अवतार या पैग-म्बर से उपलब्ध हो सकता है। खतरा इस बात का है कि यदि हमारी जिज्ञासा और श्रद्धा बहुत तीव्र है तो हम सत्य के हमारे अपने भाव की अनुभूति करेंगे—सत्य की अनु-भूति नहीं कर सकेंगे, क्योंकि सत्य कोई भाव नहीं है। ऐसी अनुभूति सत्य से मिलती-

जुलती प्रतीत हो सकती है परन्तु वह सत्य है नहीं—हम केवल अपना भाव, विचार या प्रतीक मात्र देखते हैं। पहले वह भावनात्मक था, अब वह एक ठोस पदार्थ बन गया, पहले से वह अधिक संतोषदायक बन गया। पहले से अधिक उत्तेजक और प्रेरक बन गया। आज सारे विश्व की वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में प्रतिदिन यह वैज्ञानिक तथ्य प्रकट हो रहा है कि एक प्रकार की शक्ति दूसरी प्रकार की शक्ति में अथवा शक्ति ठोस द्रव्य (Matter) में और ठोस द्रव्य शक्ति में परिवर्तित हो रहा है। यदि यह प्रयोगशाला मानवीय मन ही है तो यह शक्ति परिवर्तन के मूल वैज्ञानिक तथ्य को बदलता नहीं। यदि हम यह दिखा सकें कि किसी मंत्र के जप से विचार की एकाग्रता और तीव्रता से विशेष प्रकार से कुछ शब्दों को उत्पन्न करने से कुछ ठोस भौतिक परिणाम सामने आ सकते हैं तो हम यह प्रदर्शित करते हैं कि विचार को ठोस द्रव्य में रूपान्तरित किया जा सकता है। यह कोई नयी बात नहीं है। हाल में यह शोध हुई कि स्मृति जो कि वस्तुत. संगठित विचार ही है—प्रकृत्या रासायनिक है। यह ऐसी शोध है कि जिससे सारे संसार के प्राचीन अथवा आधुनिक तथाकथित आध्यात्मिक गुरुओं के उपदेशों के आधार पर खड़े अनेक अंधविश्वासों का पत्ता कट जाना चाहिए। उनका अन्त हो जाना चाहिए।

जब किसी औषध, सुझाव, गुर या मंत्र के जप से मन को सम्मोहित कर दिया जाता है तो अचेतन मन के गहरे स्तरों को खोज लेना सम्भव है और तब इन तथाकथित नये अनुभवों, शब्दों और दृश्यों से महान् उत्तेजन और संतोष प्राप्त किया जा सकता है। ये अनुभव नये जान पड़ते हैं क्योंकि साधक को इनकी अनुभूति पहली बार होती है—यद्यपि बुद्धिमत्तापूर्ण निरीक्षण से देखा जाये तो यह पता लग सकता है कि ये सब पुरानी स्मृतियों के भण्डार से ही निकले है, फिर वे स्मृतियां चाहे व्यक्तिगत हो चाहे सामूहिक। यदि किसी नयी वस्तु की अनुभूति प्राप्त करनी है तो मन को भूतकाल से सर्वथा मुक्त होना चाहिए और उसके लिए कोई भी पद्धति काम नही देगी। दूसरा सत्याभास, जो कि आध्यात्मिक जगत् में बहुत प्रचलित है, वह यह कल्पना है कि हम जब किसी बिन्दु या विचार पर मन को एकाग्र करते हैं तो वह क्रमश: उत्तमतर, सूक्ष्मतर अंशों में विभाजित होते-होते पूर्णतया समाप्त हो जाता है। प्रसिद्ध तान्त्रिक विद्वान् कविराज गोपीनाथ ने गणितीय पद्धति द्वारा इस विचार का विकास किया है। अपनी इस पद्धति में वे बताते हैं कि किसी वर्णमाला के एक अक्षर के उच्चारण के लिए जितने समय की आवश्यकता होती है, वही मनोवैज्ञानिक समय की एक इकाई (Unit) है। अचेतन मन के विभिन्न स्तरों पर एकाग्रता द्वारा विचार की यह इकाई उत्तरोत्तर छोटे-छोटे और सूक्ष्मतर अशो मे विभाजित होती है। यह नवें स्तर पर पहुंचते-पहुंचते 592 टुकड़ों में विभाजित हो जाती है। तब 1/512वां अंश व्यावहारिक रूप में शून्य जैसा हो जाता है। इस प्रकार यह मान लिया जाता है कि विचार समाप्त हो गया, उसका अन्त हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि मन बहुत सूक्ष्म हो जाता है, विचार से लगभग मुक्त हो जाता है—द्रष्टा और दृश्य के पूर्ण आत्मसात् हो जाने के कारण संघर्ष पूर्णतः लुप्त हो जाता है। परन्तु मन की मूल प्रकृति पहले जैसी ही बनी रहती है।

अनेक प्रकार की कल्पनाओं, मंत्रों और सम्मोहनों का जीवन मे अपना-अपना स्थान है। उनके द्वारा रोगियों को रोगमुक्त किया जा सकता है। मन की अन्तर्ज्ञानीय और अधिसामान्य क्षमताओ का विकास किया जा सकता है और सुविधाजनक भौतिक जगत् की रचना की जा सकती है। अस्तु वह केवल अपर्याप्त ही नही है, साथ ही अत्यन्त खतरनाक बन जाती है जब वह सीधे-सादे लोगों के मनोमार्जन के काम में लाई जाती है अथवा चरम सत्य या वास्तविकता की खोज के लिए उन्हें उसका साधन बनाया जाता है।

निरीक्षण की कला

निरीक्षण के तीन पहलू हैं। एक है निरीक्षक या द्रष्टा, दूसरा है निरीक्षण की वस्तु अर्थात् दृश्य और तीसरा है निरीक्षण की क्रिया। जब किसी वस्तु को देखते हैं तो प्रकाश की किरणें उस वस्तु से होकर आंखों तक आती हैं और फिर वे दृष्टि की नसों से होकर दिमाग तक पहुंचती हैं। किसी वस्तु को देखने, उसे पहचानने और उसका नामकरण करने के बीच कुछ न कुछ समय अवश्य लगता है। फिर वह कितना ही कम क्यो न हो। इसके अतिरिक्त यदि हम सावधानी के साथ किसी वस्तु का निरीक्षण करते हैं तो उसके साथ-साथ और भी अनेक वस्तुएं देखते हैं। मान लीजिये कि हम किसी व्यस्त सडक पर कार चला रहे हैं तो हम जानते हैं कि आसपास मनुष्यों की भीड़ है, अगल-बगल में दूसरी गाडियां हैं, सामने सड़क है। परन्तु इन सब दूसरी वस्तुओं के विषय में हम विचारपूर्वक सोचते नहीं। यों हम देखते हैं इन सब चीजों को पर हम उन पर न तो सोचते हैं, न उनका नाम ही लेते है। किसी वस्तु को पहचानने अथवा उसका नामकरण करने के पहले जो सबसे पहली स्थिति होती है वह स्थिति 'निर्विकल्प ज्ञान' की होती है। मुंह से वह न तो कही जाती है और न उसमें कोई विचार रहता है। इस निर्विकल्प ज्ञान की स्थिति से आगे बढ़कर जब हम विचार, पहचान और नामकरण की स्थिति मे पहुंचते हैं तो वह स्थिति 'सविकल्प ज्ञान' की होती है। निरीक्षक जब निरीक्षण की वस्तु को पहचान लेता है तो वह उसका वर्गीकरण करता है, उसे कोई विशेषण देता है। वह यदि सुखद है और वांछनीय है तो वह उसे अपने मे मिला लेता है। वह यदि अप्रिय और अवांछनीय है तो वह उसे अलग कर देता है, दूर हटा देता है। अस्तु, मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में तादात्म्य और पृथक्करण की ये प्रक्रियाएं एक ही हैं। एक में दूसरी प्रक्रिया अन्तर्निहित है। दो में से किसी भी स्थिति में निरीक्षक और निरीक्षित वस्तु एकाकार नही हो पाते। इसलिए ऐसा निरीक्षण नही बन पाता। वह केवल विकार बनकर रह जाता है। द्रष्टा और दृश्य के बीच में जो दूरी (Space) रहती है जिसमें आत्मप्रक्षेपण होता है, वह एक मनोवैज्ञानिक अन्तराल है।

जब किसी पदार्थ के साथ हमारा घनिष्ठ सम्पर्क होता है तो हमें उसकी जानकारी होती है। जैसे, हम अपने हाथ में कोई चम्मच या प्याला पकड़ते हैं तो हमें उसकी रचना बनावट उसकी घनता उसके तापमान आदि का पता चलता है। जब वह वस्तु हमसे कुछ दूरी पर रख दी जाती है तो हम उसके गुणों के विषय में सोच सकते हैं परन्तु

उसका अनुभव नहीं कर पाते। यह मनोवैज्ञानिक दूरी जिसमें हम वास्तविक स्पर्श के स्थान पर उसका विचार करते हैं, वह दूरी है जिसमें निरीक्षक निरीक्षण की वस्तु से अपने को हटा लेता है। किसी वस्तु के सर्वांगीण निरीक्षण के लिए यह आवश्यक है कि उसकी मनोवैज्ञानिक दूरी समाप्त होनी चाहिए। इसी में तो विचार अपना काम करता है। यह दूरी विचार छोड़कर और कुछ नहीं है। विचार के समाप्त होते ही दृष्टा और दृश्य के बीच घनिष्ठ सम्पर्क हो जाता है। द्रष्टा और दृश्य का मनोवैज्ञानिक एकीभाव ही सच्चा निरीक्षण है। निरीक्षण की ऐसी समग्र प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक रूप में कोई निरीक्षक नही रहता यद्यपि भौतिक रूप में वह वहां बना रहता है। एक बार जहां निरीक्षक लापता हुआ कि निरीक्षित वस्तु का अलग मनोवैज्ञानिक अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है।

जब यह मनोवैज्ञानिक दूरी बनी रहती है तो निरीक्षण तो नही होता, होता है आत्म-प्रक्षेपण। इस दूरी में निरीक्षक लगातार अपनी इच्छाओ, अनिच्छाओं और ज्ञान का प्रक्षेपण करता रहता है। इसलिए वह निरीक्षण की वस्तु को ठीक से देख नही पाता और इस बात को समझ नहीं पाता कि निरीक्षण की वस्तु वस्तुतः क्या है। वह केवल अपनी इच्छाओं, अनिच्छाओं और ज्ञान का ही निरीक्षण करता रहता है। इसके अलावा जिस क्षण पहचान होकर नामकरण आरम्भ होता है उसी क्षण आगे का निरीक्षण समाप्त हो जाता है और तब निरीक्षक और निरीक्षित वस्तु के बीच की दूरी फिर सामने आ जाती है।

इसलिए किसी वस्तु का ठीक ढंग से निरीक्षण करने के लिए, उसे समझने के लिए निरीक्षक को शांत, मौन और निष्क्रिय बनना चाहिए। अर्थात् निरीक्षक का सेंसर, उसका दोषान्वेषण समाप्त हो जाता है। निरीक्षक को शांत साक्षी बनना सीखना होगा। उसे केवल बाहरी चीजों का ही साक्षी नहीं बनना होगा, भीतरी हलचलों का भी। अपने विचारों का, अपनी पसंदगियों और नापसंदगियों का भी मौन साक्षी बनना सीखना होगा। निरीक्षक ज्यों-ज्यों इस प्रकार की निरीक्षण की गहराई में उतरता है त्यों-त्यों वह अधिक शांत बनता चला जाता है और आगे चलकर लुप्त हो जाता है। तब केवल निरीक्षण की वस्तु ही बच रहती है।

केवल निरीक्षक के कार्य से निरीक्षण की वस्तु पृथक् अस्तित्व के रूप में रह जाती है। जब एक बार निरीक्षक लुप्त हो जाता है तब केवल शुद्ध निरीक्षण बाकी रहता है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि पृथक्-पृथक् अस्तित्वों के रूप में द्रष्टा और दृश्य का समाप्त हो जाना अथवा उनका मिलकर एक हो जाना शुद्ध और सरल निरीक्षण की ओर ले जाता है। निरीक्षण की प्रक्रिया में द्रष्टा और दृश्य मिलकर एक हो जाते हैं। ऐसा होते ही मन का रूपान्तरण हो जाता है। वह सम्पन्न और पूर्ण बन जाता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।

—पातंजल योग दर्शन 4/23.

"द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों से रंगा हुआ चित्त सब अर्थों वाला सभी सम्म

त्तियों वाला बन जाता है।"

देखने की बात यह है कि ऐसा निरीक्षण ही सच्चा निरीक्षण है और जब द्रष्टा और दृश्य के बीच कोई व्यवधान, कोई दूरी या कोई अवकाश होने लगता है तो आत्म-प्रक्षेपण होने लगता है और सच्चा निरीक्षण विकृत हो जाता है। यह आत्म-प्रक्षेपण अहं की ओर विनाशक करतूत है। यह प्रेम और विवेक का नाश कर देता है। उसके साथ-साथ यह अनन्त संघर्ष और विरोध ले आता है। हम इस बात को जानते है कि अहं ही हिंसा, कष्ट और दुःख का मूल स्रोत होता है। इस अहं के निर्मूलन के लिए अनन्त काल से असंख्य उपाय निकाले गये हैं पर इन प्रयत्नों से अहं भीतर और गहरा उतरता चला गया है। उनके चलते वह इतना सूक्ष्म हो गया है कि ऐसे बिन्दु पर पहुंच गया है कि उसे पहचानना कठिन हो गया है। मनुष्य ने सोचा कि उसने अहं की समस्याओं को हल कर लिया पर वह उसका सामना करने से अपने आपको बचा नहीं सका। वह एक अन्य स्तर से सम्पन्न होता आ रहा है और उसे ठोकर मारता आ रहा है। परन्तु यदि मनुष्य निरीक्षण की इस कला को सीख सके तो अहं की समस्या जड़मूल से हल की जा सकती है।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावना विनिवृत्तिः

—पातंजल योगदर्शन 4/25.

(शुद्ध निरीक्षण की इस कला से) "जो विशेषदर्शी है, विवेक द्वारा देखता है, उसकी आत्मभाव विषयक भावना, अहं की भावना सर्वथा जाती रहती है।"

इसी जागरूकता के साथ जब यह सरल और शुद्ध निरीक्षण किया जाता है तो भ्रम और दुःख लुप्त हो जाते हैं। व्यक्तियों, वस्तुओं और भावों के साथ मानव के सम्बन्ध का यह सही ज्ञान ही नवीन चेतना का एकमात्र आधार है। यही सारी मानवता को प्रेम के एक सूत्र में बांधता है और दुःख, संघर्ष तथा पीड़ा का अन्त कर देता है। नये धर्म-सम्प्रदायों में अथवा नयी पद्धतियों में यह नहीं मिलता। ये सम्प्रदाय तो मानवता को खण्डित करते चलते है जैसा कि भूतकाल में वे सदैव करते आये हैं। कहना होगा कि निरीक्षण की इस कला को सीखने में ही मुक्ति है। यह मुक्ति प्राप्त करना अधिकांश व्यक्तियों के लिए सम्भव है यदि वे अपने जीवन की समस्याओं को गम्भीरता से हल करना चाहते है।

अब कुछ साहसी और शक्तिशाली व्यक्ति एक कदम आगे जा सकते हैं और वे दोनों जागरूकता और ज्ञान से ऊपर उठ सकते हैं। हां, इस बात को बौद्धिक रूप से नही समझा जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति की कल्पना भी भयभीत कर देने वाली है। जब जागरूकता और ज्ञान भी लुप्त हो जाते हैं तो मानव-मन का क्या होता है। क्या वह मृत, निष्क्रिय या जड़ नहीं हो जाता? क्या वह महाशून्य की स्थिति में प्रवेश नहीं कर जाता जो कि मृत्यु से भी भयंकर मालूम होती है? यदि कोई व्यक्ति कल्पनाजनित भय को दूर करके शांतिपूर्वक देख सके तो वह सरलता से समझ सकता है कि जागरूकता की केवल तभी पड़ती है जब मनुष्य किसी दुःख, कष्ट या पीड़ा में पड़ा होता है अथवा

जब मनुष्य किसी शारीरिक या बौद्धिक क्रिया मे डूबा रहता है जब कोई मनुष्य ऐसी किसी परिस्थिति मे नहीं रहता, तब जागरूकता की आवश्यकता ही क्या रहती है ? तब समझदारी क्यों नहीं छुट्टी लेकर विश्राम करने चली जाती है ? फिर रह ही क्या जाता है ?

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा।
विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥

—पातंजल योग दर्शन 4/27

"जिस योगी का विवेक ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है उसका विवेक ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उसे धर्म मेघ समाधि प्राप्त हो जाती है।"

अर्थात् जो व्यक्ति ज्ञान मे भी उदासीन रहता है, वह अनुभूति की स्थिति के भी परे—सर्वोच्च समाधि में चला जाता है, जिसमे मनुष्य एक भारी मेघ की भांति अपनी आन्तरिक प्रकृति (स्वभाव या धर्म) में ही लिपट जाता है।

जागरूकता से परे जाने का साहस ऐसी स्थिति मे पराकाष्ठा को प्राप्त होता है, जो सुख-दुःख से, ज्ञान-अज्ञान से परे है और जिसमें जागरूकता केवल उन थोड़े क्षणों में काम करती है जब उसकी आवश्यकता पड़ती है। जैसे उस समय जब मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यह वह स्थिति है जो प्रकट रूप से नकारात्मक है फिर भी क्रियाशील शक्ति से ओतप्रोत है। सत्य की इस सर्वोच्च स्थिति में सक्रिय और निष्क्रिय केवल एक-दूसरे में विलीन ही नहीं हो जाते अपितु दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

प्रश्न है कि मनुष्य इस स्थिति को किस प्रकार प्राप्त करे। सर्वोच्च सत्य के इस बिन्दु पर पहुंचने के लिए हमें कौन से अभ्यास, कौन-सी प्रक्रिया या कौन-सी साधना करनी होगी। इसका उत्तर खोजने के लिए क्यों न हम आध्यात्मिकता के पुराने इतिहास पर दृष्टिपात करें ?

हम सांख्य दर्शन को लें। इस दर्शन के अनुयायी इसके आरम्भ काल से ही तटस्थ और निष्क्रिय जागरूकता का अभ्यास करते आये है। इसके चलते द्रष्टा और दृश्य के बीच पूरी दरार पड़ गई। इस अभ्यास के कारण अप्रोत्साहनीय चार प्रकारों को खुल खेलने का अवसर मिला जड़, बालकवत्, उन्मत्त (पागल) और पिशाच (असंतुलित पिशाचवत्)। ये स्थितियां तब उत्पन्न हुईं जब अहं या निरीक्षक अभ्यास द्वारा इस प्रकृति से अलग हो गया और उसने नियंत्रण करना बिल्कुल छोड़ दिया। मन को संघर्ष से तो मुक्त किया गया है परन्तु उसका रूपान्तरण नहीं किया जा सका। बुद्ध ने सम्भवतः अपने साक्षात्कार के अन्तिम क्षण में कारण और परिणाम के चक्र को तोड़ दिया हो, तब उन्हें वह आशीर्वाद और वह प्रकाश मिला हो जो सभी प्राणियों के प्रति करुणा से भरा हुआ है। परन्तु यह परिणाम, यह प्रकाश प्राप्त करने का कारण क्या था ? क्या वह कोई पद्धति या साधना थी जिसका कि बुद्ध कुछ समय से अभ्यास कर रहे थे अथवा क्या वह सभी पद्धतियों की व्यर्थता देखकर उनकी परिसमाप्ति थी ? क्या वह सारी

आशाओं का परित्याग था ? शायद यह पूर्ण पराजय का और आत्मसमर्पण का भाव था जिसकी चरम परिणति इस साक्षात्कार में, इस प्रकाश में हुई। क्या इसे और आगे ले जाया जा सकता था ? और बुद्ध के बाद उनके कितने शिष्य इस प्रकाश को प्राप्त करने मे समर्थ हो सके ? इस अत्यन्त रुचिकर प्रश्न पर हर्मन हैस ने अपने उपन्यास 'सिद्धार्थ' मे बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है।

सांख्य दर्शन की तरह बुद्ध अथवा उनके शिष्यों द्वारा प्रदर्शित मार्ग का परिणाम एक प्रकार की स्वतंत्रता के रूप में हुआ जिसमें एक प्रकार की सतत् जागरूकता का अभ्यास रहता था। अस्तु वहां एक सूक्ष्म तनाव सदैव बना रहता था जो स्वतः-स्फूर्ति स्वतंत्रता और रचनात्मक वास्तविकता से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं था।

जैन धर्म के संस्थापक भगवान् महावीर सहज मुक्ति पाने के लिए जंगलो मे भटकते रहे। वे बारह बरस तक भटके परन्तु उन्हें यह मुक्ति नहीं मिल सकी। और एक दिन जब वे बुरी तरह थक गये और निराश हो गये थे तब एकदम अचानक यह सहज स्वतंत्रता बिना बुलाये उनके पास पहुंची। यह प्रकाश, यह साक्षात्कार उन्हें उपलब्ध हो गया। इस साक्षात्कार के बाद प्रत्येक वस्तु का रूपांतरण हो गया। हर चीज बदल गई। उनकी भाषा भी बदल गई जो अब इने-गिने लोगों की ही समझ में आने के योग्य थी। उनके प्रमुख शिष्य गौतम मुनि उन्हें समझ पाये, परन्तु उन्हें मुक्ति न मिल सकी, यद्यपि उनका गौतम मुनि का उपदेश सुनकर अनेक व्यक्ति मुक्त हो गये। गौतम मुनि को मुक्ति केवल तब मिली जब भगवान् महावीर का निर्माण हुआ अर्थात् उन्हें मुक्ति तब प्राप्त हुई जब उनकी आसक्ति, उनकी आशा, उनका लगाव और उनका आसरा जाता रहा।

इसके बाद आते हैं अद्वैत दर्शन के संस्थापक आदि शंकर। उन्होंने 'तत्त्वमसि और सोऽहं' महावाक्यों पर ध्यान करने की शिक्षा दी। उसके फलस्वरूप सतत् अभ्यास करके आतम-सम्मोहन की स्थिति प्राप्त हुई। आधुनिक युग में महान् संत रमण महर्षि ने अपने अनुयायियों को सलाह दी 'सोऽहं' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे सूत्रों द्वारा अपने को सम्मोहित मत करो। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि सतत् अपने-आपसे यह प्रश्न करते रहे कि 'कोऽहं' "मैं कौन हूं ?" इस मार्ग द्वारा बड़ा व्यापक और गम्भीर परिणाम निकलना चाहिए था——उससे वस्तुतः अहं को तोड़ने में बड़ी सहायता मिली——परन्तु उसमें एक सीमा, एक मर्यादा आ घुसी जो कि किसी भी साधना पद्धति में आ घुसती है। साक्षात्कार का प्रकाश का पहला आविर्भाव शायद स्वतः-स्फूर्त होता है। परन्तु लगातार प्रश्न करते रह कर अद्वैत को सतत् बनाये रखने की चेष्टा द्वारा बुद्धि को थका डालने से उस स्थिति पर एक मर्यादा या सीमा आ जाती है। कुछ अभ्यास के बाद वह स्थिति सहज और स्वाभाविक प्रतीत हो सकती है पर अब वह सच्ची अन्तः-स्फूर्ति नहीं रह जाती। उसी प्रकार किसी भी तथाकथित आध्यात्मिक स्थिति में आत्मा के साथ तादात्म्य होने से मनुष्य की आध्यात्मिक यात्रा पर एक सीमा या मर्यादा आ जाती है।

आज के युग में श्री जे० कृष्णमूर्ति की आत्मज्ञान की दिशा में बहुत बड़ी देन है।

ध्यानपूर्वक उनके प्रवचन सुनने वाले अनेक व्यक्ति शांति की स्थिति में पहुंच जाते हैं। परन्तु सामान्य मानव को, जो सकारात्मक समाधानों या निष्कर्षों के लिए अभ्यस्त रहते हैं, यह शांति उबाने वाली और व्यर्थ होती है। यह शान्ति की स्थिति कई व्यक्तियों के लिए अध्यात्म प्रसाद हो सकती है और शायद यह एक नये क्षितिज की दिशा में जाने के लिए सीढ़ी का पत्थर हो सकती है। पर अनेक व्यक्ति निराश हो जाते हैं और लौट पड़ते हैं।

श्री जे० कृष्णमूर्ति के प्रवचनों का महत्त्व इस बात से आंकना ठीक नहीं है कि कितने व्यक्ति उनकी बातों को ध्यानपूर्वक, आदरपूर्वक सुनते हैं अथवा कितने उनसे निराश हो जाते हैं बल्कि उनका महत्त्व इस बात से है कि उन्होंने आत्मज्ञान से बृहद् प्रश्न के समाधान के लिए अत्यन्त स्फूर्तिदायक नया मार्ग प्रशस्त किया है, नया दिशा-दर्शन दिया है।

अब हम अपने मूल प्रश्न की ओर लौटें, जहां से हम इधर-उधर भटक गये थे : निरीक्षण की इस कला को हम किस प्रकार सीखें। ध्यान (Meditation) में ही इस प्रश्न की तत्परता पूर्ण और सच्ची खोज है। यह बड़ा कठिन प्रश्न है और जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कोई भी व्यक्ति इसका संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकता। इसका एकमात्र उपाय यही है कि हम सीखने की तीव्र अभिलाषा रखें और द्रष्टा तथा दृश्य के बीच प्रेम और स्नेह का सम्बन्ध स्थापित हो। इस प्रेम में सभी बातें सम्भव हैं।

सारांश यह कि मोटे तौर पर प्रत्येक वस्तु की ओर देखने के दो प्रकार होते हैं। एक फूल को ही उदाहरण के रूप में ले लीजिए। उसकी ओर देखने का एक प्रकार है एक वनस्पतिशास्त्री, एक बूढ़ीगुणज्ञ की दृष्टि से, एक वैज्ञानिक दृष्टि से, उसके तक-नीकी ज्ञान की दृष्टि से देखना। दूसरा प्रकार है किसी कवि या कलाकार की दृष्टि से देखना। पूरे ध्यान से, पूरी सावधानी से उसे देखना जिससे मानव-मन पर फूल की पूरी छवि, उसका पूरा प्रभाव पड़ सके। यह प्रभाव केवल तब पड़ता है, जब द्रष्टा फूल के साथ, दृश्य के साथ पूर्णतः एकाकार हो जाता है। अतः निरीक्षण की इस कला को सीखने के लिए हममें वैज्ञानिक की तत्परता, गम्भीरता होनी चाहिए और एक कवि तथा कलाकार की भाव-प्रवणता होनी चाहिए। फूल हो, कोई वृक्ष हो, कोई प्राकृतिक पदार्थ हो, उसके निरीक्षण द्वारा हम इस कला का शिक्षण आरम्भ कर सकते हैं। कारण ऐसे पदार्थों से अत्यन्त तीव्र प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न होती। मनुष्य ज्यों-ज्यों इस कला को सीखता चले, त्यों-त्यों उसे आगे बढ़कर ऐसी वस्तुओं और व्यक्तियों को देखना आरम्भ कर देना चाहिए जिनको देखकर रुचि और अरुचि की, पसंदगी और नापसंदगी की तीव्र भावना-त्मक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होती हैं। इस स्तर पर मनुष्य किसी पदार्थ को केवल बाहर ही नहीं देखता, उसे अपने भीतर भी अपने विकारों क्रोध, घृणा, आसक्ति के साथ जोड़ करके भी देखता है। इस प्रकार के निरीक्षण में, जब मनुष्य अपने क्रोध और घृणा जैसे विकारों के साथ एकाकार होकर निरीक्षण करता है तब वह अपने मूल स्वभाव के रूपान्तरण की परमोच्च कला को सीख लेता है और उसी के साथ-साथ वह बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के पर्यावरण से मुक्त हो जाता है।

प्रेम

निरीक्षण की कला पर विचार करते हुए हमने देखा कि शांत मन जब किसी वस्तु या व्यक्ति की ओर देखता है तो द्रष्टा और दृश्य के बीच की दूरी गायब हो जाती है। यह स्थिति जिसमें निरीक्षक का अहं का कार्य समाप्त हो जाता है और वह निरीक्षत व्यक्ति के साथ मिलकर एक हो जाता है, प्रेम की स्थिति है। किसी युवक ने भूतकाल मे किसी युवती की ओर, उसके चेहरे की ओर अनेक बार देखा हो, परन्तु कभी ऐसा क्षण आ जाता है जब उसकी ओर देखते ही पहली बार उसे पता चलता है कि उसमें अभिभूत करने वाला अतुलनीय सौंदर्य है। तब उसके मन में उस सौंदर्य के लिए विस्मय और आदर का भाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है। तब उसे कोई भी वस्तु उस सौंदर्य से बढ़कर प्रतीत नही होती। मन की पृष्ठभूमि के अनुसार यह स्थिति कुछ क्षणों तक अथवा उससे कुछ अधिक देर तक टिक सकती है। उस समय कोई कामना अथवा महत्त्वाकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि वह सत्ता, वह अस्तित्व जिससे कामना उत्पन्न होती है उस समय अनुपस्थित रहता है। उस समय स्वार्थ की, स्वामित्व की कोई भावना नहीं रहती। उस समय अपार समर्पण की ही भावना रहती है। बाद में जब आसक्ति और स्वामित्व की भावना आती है तो प्रेम की वह पवित्र स्थिति दूर भाग जाती है और केवल एक निष्प्राण स्मृति रह जाती है जो अनन्त दुःख और पीड़ा का कारण बन सकती है। लोभ, लालच, महत्त्वाकांक्षा और हिंसा से भरा हुआ मानव-मन प्रेम की अपनी इस स्थिति में अधिक समय तक रहने मे असमर्थ रहता है। अस्तु वह इस बात में समर्थ है कि इस अनुभव के, इस केन्द्रीय स्तम्भ के चारों ओर भारी तत्वज्ञान और कविता का कृत्रिम तानाबाना रच दे जो बड़ा मायावी, क्षणिक और भ्रान्तिकर है।

सौन्दर्य की इस महान् भावना का स्रोत क्या है? क्या उस प्रियतमा का चेहरा हो सकता है? यह युवक-युवती के इस चेहरे को इससे पहले अनेक बार देख चुका है, पर उन मौकों पर उसे कभी इस सौंदर्य के दर्शन नहीं हुए। वह उस चेहरे से परिचित हो सकता है, वह इस युवती पर पत्नी के रूप में स्वामित्व प्राप्त कर सकता है परन्तु तब ऐसे संयोग आ सकते है कि कुछ ही दिनों में वही चेहरा उसके लिए बिल्कुल आकर्षक न रह जाये। तब ऐसा समय आ सकता है जब अन्य चेहरे उसे अधिक सुन्दर दिखाई देने लगें। प्रश्न है कि ऐसा क्यों हो गया? प्रेम की उस परमोच्च स्थिति में वह सौंदर्य अतुलनीय था अन्य कोई चेहरा उससे बढ़कर सुन्दर नही था? क्या इसका अर्थ यह है कि

वह सौंदर्य इस प्रियतमा में था ही नहीं ? क्या वह सौंदर्य प्रेमी की आंखों में था अथवा क्या वह प्रेमी और प्रेमिका दोनों से परे कोई अन्य उच्चतर पदार्थ था ?

यह सौंदर्य वैयक्तिक है कि अवैयक्तिक ? क्या प्रियतमा का केवल चेहरा ही सुन्दर है ? क्या उस स्थिति में सारे वृक्ष, सारे पुष्प, सारे नक्षत्र और तारे और चन्द्रमा भी सुन्दर नहीं लगते ? स्पष्ट है कि वह परमोच्च प्रेम या सौंदर्य एक साथ ही वैयक्तिक भी हैं और अवैयक्तिक भी। उस समय मानवीय और दैवी, इन्द्रियातीत और सर्वव्यापी के बीच की विभाजन रेखा गायब हो जाती है।

प्रश्न उठता है कि मानव-मन क्या इस प्रेम और सौंदर्य की रचना कर सकता है ? अथवा यह कोई अन्तःस्फूर्त घटना है जो कभी-कभी अपना आशीर्वाद बरसाया करती है। इसकी एक क्षणिक झलक पाकर मानव-मन इसे पुनर्जीवित करने के लिए और इसकी पुनर्रचना करने के लिए अनेकानेक उपाय करता रहा है। मनुष्य महत्त्वाकांक्षा, आत्मत्याग या तादात्म्य के मार्गों द्वारा अपने संवेग को उच्चतम स्तर तक ले जाने की चेष्टा करता रहा है। भक्ति का मार्ग ऐसा ही एक मार्ग है। किसी भी मानसिक प्रक्रिया में जैसा होता है, वैसे ही इसमें भी अनेक स्तर और श्रेणियां हैं। इसमें नीचे का स्तर अपराभक्ति है, जिसमें भक्त और उसके आराध्य अलग-अलग रहते हैं। दोनों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न रहता है। यह द्वैत का सम्बन्ध है। इसके सर्वोच्च स्तर में परा-भक्ति और आराध्य दोनों पूर्णतः मिलकर एक हो जाते हैं। हम कह सकते है कि दोनों इस स्थिति मे अपना-अपना पृथक् अस्तित्व खोकर एकाकार हो जाते हैं। पराभक्ति की यह स्थिति ऊपर वर्णित प्रेम और सौंदर्य की अन्तःस्फूर्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उससे इसका सादृश्य तो है परन्तु यह वही नहीं है। दोनों स्थितियां एक नहीं हैं, क्योंकि भक्ति की इस स्थिति में अपवित्रता के रूप में विचारशक्ति का कुछ न कुछ सम्मिश्रण बना ही रहता है।

इसके अतिरिक्त इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि ऐसी अनन्य और एकाग्र भक्ति के लिए अत्यन्त सरल और निर्मल मन की आवश्यकता होती है। ऐसा निर्मल मन होना चाहिए जैसा कि तुलसीदास का था, सूरदास का था, मीराबाई का था। आज के जटिल बौद्धिक जगत् में जब अविश्वास और अश्रद्धा का ही चारों ओर प्राबल्य है, तब ऐसा निर्मल मानस एक दुर्लभ वस्तु ही माना जायेगा।

एक बात और। दैवी और मानवीय, आध्यात्मिक और लौकिक प्रेम में सदैव कुछ न कुछ विभेद रहता ही है। किसी मानव के भीतर दैवी भाव का दर्शन करना और दैवी भाव के प्रतीक के रूप में उससे प्रेम करना एक बात है और प्रेम की ऐसी स्थिति मे होना जिसमें न दैवी भाव है न अदैवी— बिल्कुल दूसरी बात है।

अत्यन्त सद्भाव और एकाग्रता के साथ, जैसा कि श्री अरविन्द ने अपनी पुस्तक 'इण्टेग्रल योग' में बताया है—यह सम्भव है कि मनुष्य दैवी प्रेम के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच जाये यह मानव-मन के लिए महान् शक्ति और सौभाग्य की बात होगी परन्तु

कोई भी परिणाम जो मानवीय प्रयत्न पर निर्भर करता है—फिर वह कितना ही सूक्ष्म क्यो न हो—वह देखने में भले ही अन्तः-स्फूर्त-सा जान पड़े, वस्तुतः अन्तः-स्फूर्त होता नही। परन्तु जो अन्तः-स्फूर्त नही है, वह सच्चा प्रेम नहीं है। इस योग में हम प्रत्ययात्मक सर्वोच्च दैवी प्रेम की अनुभूति करते हैं जो वास्तविकता से, सत्य से मिलता-जुलता तो है पर सत्य या वास्तविकता है नहीं।

अब हमारे सामने एक विषम समस्या आ खड़ी होती है। हमने अतः-स्फूर्त प्रेम के रूप में एक ऊपर उठाने वाली उदात्त घटना, वस्तुतः रूपान्तरण कर देने वाली घटना देखी। हमने यह भी देखा कि मानवीय मन चाहे जो करे, चाहे जितना कठोर प्रयत्न करे इस सुन्दर स्थिति को अपने वश में करने की शक्ति और सामर्थ्य उसमे नही है। प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में हम क्या करें ? हम इतना ही कर सकते हैं कि हम यह महसूस करें कि हमारे जीवनों में इस महान् रूपान्तरकारी सिद्धान्त को लाने की बडी आवश्यकता है। हमें यह महसूस करना चाहिए कि हम इस रचनात्मक विधायक स्थिति पर पहुंचने के लिए कुछ भी करने में असमर्थ हैं। हम केवल इतना ही कर सकते है कि अपनी विवशता के प्रति, अपनी लाचारी के प्रति आत्मसमर्पण करना सीखें और शांत हो जायें। इस सहज शान्ति में सम्भव है हम पर वह परम शक्ति आशीर्वाद बरस पड़े जिसे हम 'प्रेम' कहते हैं।

प्रेम की स्थिति ऐसी नही है जो मानवीय मन के लिए सर्वथा अपरिचित हो। विश्व में बड़ी संख्या में ऐसे लोग होगे जिन पर जीवन मे एकाधिक बार इस महान् रहस्यमयी शक्ति का आशीर्वाद बरसा हो। परन्तु जब वह समझा नहीं जा सका तो वह अविचल ज्योति या प्रकाश का स्वरूप धारण नही कर सका। वह निस्तेज हो गया, लुप्त हो गया। महत्त्व इस बात मे नही है कि हम इस शक्ति से भेंट करके अथवा इसका स्पर्श मात्र करके संतुष्ट हो जाएं। महत्त्व इस बात में है कि हम गहरे ध्यान और चिन्तन के द्वारा मन को इस बात के लिए तैयार करें कि वह इस शक्ति को ग्रहण करे। वह सक्रिय-निष्क्रियता की स्थिति में रहे जिससे वह शक्ति बिना बाधा के टिक सके और ऐसी अविचल ज्योति या ज्वाला बने कि जीवन को पूर्णतः रूपान्तरित कर डाले।

इसलिए यह समझना आवश्यक है कि वे तथ्य कौन से हैं जिनके कारण इस प्रकाश के आने में बाधा पड़ती है। यह भी जानना आवश्यक है कि इस शक्ति को झुठलाये बिना अथवा इसे विकृत किये बिना कौन तथ्य इसके साथ-साथ निवास कर सकते हैं। मन को सरल और निर्मल होना चाहिए और वह यदि स्वभावतया, जन्मजात गुण के कारण ऐसा नहीं है तो अहं की विनाशक कृतियों (नाम, ख्याति, सम्पत्ति) के सुखो के पीछे चलने वाली दौड़ को भली-भांति समझकर उसे मन को सरल बनाना आवश्यक है। केवल वही मन प्रेम करने में समर्थ हो सकता है जो लोभ, लालच, महत्त्वाकांक्षा और हिंसा से शून्य हो। परन्तु इसके लिए मन को उसकी अभ्यस्त दौड़ों से रोककर बिल्कुल उल्टे रास्ते पर चलना होगा। केवल इतना ही करने से काम न चलेगा कि मन को बाहरी सम्पत्ति के पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति से रोका जाये अपितु यह भी आवश्यक

होगा कि वह स्मृति और संगठित अनुभवों की भीतरी सम्पत्ति के भण्डार से भी नमस्कार कर ले। उसे भी हाथ जोड दे। इसलिए वह घमण्ड से दूर होकर पूर्ण नम्रता की स्थिति को पहुंच जाए।

यहां एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाना आवश्यक है कि प्रेम की इस स्थिति के साथ यौन-भाव और विवाह का सम्बन्ध कैसा क्या हो। क्रम में पड़े हुए दो हृदयों के सम्बन्ध के रूप मे विवाह एक समझ में आने वाली बात है। परन्तु एक धार्मिक संस्कार के रूप में जिसके साथ कुछ सामाजिक नियम और दायित्व जुड़े हों—जिसमें अनेक बातें यों ही स्वीकार कर ली जाती है और जो आसक्ति और स्वामित्व के सिद्धान्तों पर खड़ा है—इस सहज स्थिति के भावना के सर्वथा प्रतिकूल है। यह स्वामित्व जिसके फलस्वरूप आसक्ति, ईर्ष्या और घृणा भी उसमें जुड़ी है, एक सुन्दर सम्बन्ध को निश्चय ही बिगाड़कर रख देगा। परन्तु यदि दो व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता और पारस्परिक बोध के साथ एक साथ रहते हैं तो ऐसी स्थिति में उनका पारस्परिक सम्बन्ध यौन-सम्बन्धों से अछूता रहे—यह आवश्यक नही। दोनों व्यक्तियों के बीच यौन-सम्बन्ध रह भी सकता है, नही भी रह सकता है। यहा जोर यौन-सम्बन्धो पर नही है, वह है प्रेम पर, समझदारी पर। प्रेम का सम्बन्ध केवल तब विकृत और नष्ट होता है जब यौन ही उसका सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन बैठता है।

यदि यौन-भावना सामान्य हो, वह अत्यधिक उग्र, तीव्र और हिंसात्मक न हो और अन्य सभी बातों की उपेक्षा करके केवल अपनी ही तृप्ति पर जोर न दे तो यौन एक उपयुक्त और सामंजस्यपूर्ण सम्मिलन बन सकता है। तब वह मिलन आध्यात्मिक मिलन की सर्वोच्च भौतिक अभिव्यक्ति बन सकता है। परन्तु यौन इतने ऊंचे स्तर तक उठ सके इसके लिए यह आवश्यक है कि वह प्रेम के पारस्परिक सम्बन्ध में बंधे हुए दो व्यक्तियों के बीच सहज भाव से छलक उठे। ऐसी क्रिया का अनुगमन उत्तेजना या सुखोभोग के रूप में नहीं किया जा सकता है जिससे सामान्य मानव-मन अभ्यस्त है। क्योंकि यह अनुगम तो हिंसा से भरा हुआ है। ऐसा समग्र यौन-सम्बन्ध तो हिंसा और संघर्ष से पूर्णतः मुक्त हो, शक्ति के अपव्यय का कोई कारण नही बनेगा। ऐसे सम्बन्ध में यौन की समस्या सदा के लिए हल हो जायेगी। उस स्थिति में मनुष्य न तो एक बचाव के रूप में यौन के पीछे दौड़ेगा और न अपनी यौन-लालसा पर विजय और नियंत्रण प्राप्त करने का ही प्रयत्न करेगा। यौन को केवल तभी समझा जा सकेगा जब मनुष्य के हृदय में प्रेम रहेगा।

इधर हाल के दिनों में विशेषतः युवक-युवतियों में यह मांग फैली है कि हमे स्वतंत्र-स्वच्छंद यौन और स्वतंत्र-स्वच्छंद प्रेम की छूट मिलनी चाहिए। प्रेम मूलत. स्वतंत्र ही हुआ करता है और स्वतंत्रता के बिना प्रेम पनप भी नहीं सकता। पर स्वतंत्र स्वच्छंद यौन का नारा अब से बोरियत से बचाव का एक नया बहाना बन गया और वह अन्त में निराशा और दुःख ही ला सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यौन ऐसी मानवीय क्रिया है जिसमें पूर्ण आत्मोत्सर्ग और आत्मविलयन की सम्भावनाएं हैं,

फिर वे कितनी ही क्षणिक क्यों न हों। यह आत्मविलयन केवल तभी संभव है जब यौन-क्रिया उत्तेजना अथवा कामसुख की पुरानी स्मृति की खोज में न होकर अत्यन्त शांति और मानसिक मौन की स्थिति में रहकर सम्पन्न की जाती है। परन्तु अधिकांश लोगों के लिए जो यौन के पीछे कामसुख अथवा जीवन की ऊब से बचाव के लिए दौड़ते हैं, यौन का अनुभव अत्यन्त निराशामय होगा। कारण, सुखोपभोग के लिए बार-बार की दौड़ केवल निराशा और ऊब को ही लाया करती है। यदि हमारे पास साधन होते हैं तो हम अपने यौन-अनुभव में नवीनता लाने के लिए यौन-क्रिया के नये-नये भागीदार खोज लेंगे। परन्तु कुछ समय के बाद नये भागीदारों की बार-बार की खोज भी हमें ऊब, निराशा और संघर्ष के सागर में ही ले जाकर डुबा देगी।

ऐसे अवसर कभी-कभी आ सकते हैं जब हम यौन-सम्बन्ध में अहं-शून्य स्थिति का अनुभव करें पर उस क्षण स्थायी भावना से परम चैतन्य अथवा प्रेम की स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए हम यौन की ओर मुड़ सकते हैं पर ऐसा करने में इस बात की सम्भावना है कि हम यांत्रिक पुनरावृत्ति की स्थिति में पड़ जायें। हम यौन क्रिया से दूर किसी बिन्दु पर अपने चित्त को एकाग्र करके विचारशक्ति का उपयोग कर सकते हैं— एकाग्रता के सुख को विकसित कर उसे यौन-सुख में परिवर्तित कर सकते हैं परन्तु यौन-क्रिया उस स्थिति मे भी यांत्रिक बनी रह सकती है। यौन और उसकी जटिलताओं को समझने के लिए एक सुख के स्थान पर दूसरा सुख लाकर खड़ा करने का उपाय कोई अच्छा उपाय नहीं है।

हमारे सामने एक ही उपाय है और वह यह कि हम प्रेम की अथवा परम-चेतना की उसी के लिए खोज करें और यदि एक बार इस प्रकाश का हमे स्पर्श हो जाये तो फिर उसी प्रकाश द्वारा यौन की अंधेरी घाटी को प्रकाशित किया जा सकता है और उसे समझा जा सकता है। उसके लिए केवल यही सम्भव दिशा है कि परम चैतन्य से यौन तक या प्रेम से यौन तक पहुंचा जाए। यौन से परम चैतन्य अथवा प्रेम की ओर जाने का कोई रास्ता नहीं है। प्रेम के विकास के लिए आत्मतुष्टि और बचाव के रूप मे यौन का उपयोग समाप्त हो जाना आवश्यक है। प्रेम सम्पूर्ण है, समग्र है और यौन इसका एक अंश मात्र है। प्रेम में यौन रह सकता है परन्तु जब यौन के पीछे पड़ा जाता है तो उसमे प्रेम रह ही नही सकता।

ध्यान-मनन-चिन्तन की समाप्ति से प्रेम का श्रीगणेश होता है। प्रेम का प्रारम्भ ध्यान का अन्त है। जब हमारे हृदयों में प्रेम होता है तो बुद्धि मौन हो जाती है और फिर वह ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि के सम्बन्ध मे कोई जिज्ञासा नहीं करती। ऐसे प्रश्न विसंगत, बेतुके लगते हैं। केवल दुखी चित्त ही अनेक खेल, निस्सार प्रश्न किया करता है। यदि हम प्रेम की स्थिति में होते हैं तो ध्यान-मनन-चिन्तन (Meditation) एक भार बन जाता है। प्रश्न भी भार बन जाते हैं—उस सहज स्थिति में केवल इसी बात की आवश्यकता रहती है कि हम मौन हो जायें, शांत हो जायें। यदि हम यह सीख लें कि हमें प्राणमूलक मन की कामनाओं और बुद्धि की यांत्रिक लालसाओं के अनुसार नही

चलना है, उसके बजाय यदि हम ऐसे ढंग से रहें कि किसी वस्तु के लिए हम कोई योजन नहीं बनाते—वह अपने-आप बनती जाती है—और हम अपनी बुद्धि के प्रयत्न द्वार ऐसा कुछ नहीं करते, तो सच्चा रूपान्तरण हो जायेगा। यह रूपान्तरण पहले तो मन के भीतर होता है फिर धीरे-धीरे शरीर पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। हम स्वयं को चमत्कार नहीं करते, पर हमारे जीवनों में चमत्कार स्वयं ही घटित होने लगते हैं।

श्रवण की कला

पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहरी जगत् से हमारा सम्पर्क होता है। इन पांच में सब से महत्त्व की दो इन्द्रियां हैं—एक है देखने की, दूसरी है सुनने की। फिर क्रमानुसार कम महत्त्व की इन्द्रियां हैं—स्वाद की, स्पर्श की और सूंघने की। हम देख चुके है कि निरीक्षण में विकार कैसे आ जाता है और उसे किस प्रकार सुधारा जा सकता है। अब हमे उन तथ्यों का, उन कारकों का सावधानी से परीक्षण करना है जिनसे सुनने मे दोष आते है।

हम जिस क्षण कोई शब्द सुनते हैं उसे समझने के लिए हम उसका विवेचन, उसकी व्याख्या करते है और किसी पर्याय में उसका अनुवाद करते हैं। मकान, रेलवे स्टेशन अथवा ट्रेन जैसे भौतिक जगत् के शब्द कोई बड़ी समस्या खड़ी नही करते। पर यह स्थिति उस समय बिल्कुल बदल जाती है, जब हम राष्ट्र, पत्नी, प्रतिष्ठा, ईश्वर, आत्मा या प्रेम जैसे मनोवैज्ञानिक व्यंजना वाले शब्द सुनते है। हम भिन्न प्रकार से उन शब्दो पर अपनी प्रतिक्रिया दिखाते हैं। अधिकांश मामलों मे जब 'मैं' और 'मेरा' किसी शब्द से जुड़ जाता है अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भी इन शब्दों से सम्बन्ध आता है तो स्थिति कठिन और जटिल बन जाती है। मानव-मन तुरंत अपना समत्व खो बैठता है और या तो विरोध करता है या समर्थन करता है और मनोवैज्ञानिक सुख-दुःख उसके साथ जुड जाते है। यह बाधा हमारे श्रवण कार्य को विकृत कर देती है। स्मृति की छिछली प्रतिक्रियाएं सामने आ जाती हैं और वे किसी शब्द को मानव-मन की गहराई में उतरने से रोक देती हैं। यह प्रतिरोध प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला खड़ी कर देता है और अन्त मे वह शांति और स्वतंत्रता को नष्ट कर देता है।

हममें से सभी लोग ऐसा व्याख्यान सुनना पसन्द करते है जो रुचिकर, प्रेरक और मनोरंजक हो। ऐसा व्याख्यान हमारे लिए क्या करता है? जब वह हमारे विश्वासो के अनुकूल होता है तब वह हमारी प्रतिबद्धता की जेल की दीवार को और अधिक मजबूत ही बनाता है। जब हम कोई ऐसा व्याख्यान सुनते हैं जो किसी ग्रंथ के विषय में हो अथवा किन्ही अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में हो तब हम अपनी मर्जी या नामर्जी, खुशी या नाखुशी के अनुसार या तो उसका समर्थन करते है या उससे अपने-आपको अलग कर लेते है। हम आसानी से ऐसे ग्रंथों या पुरुषों का समर्थन अथवा उनका विरोध कर सकते हैं अथवा कोई नई बात सीखने पर बड़ा संतोष व्यक्त कर सकते हैं। पर हमने सीखा

क्या ? हमने अपनी प्रतिबद्धता के आधार पर फिर एक बार अपने कुछ निष्कर्ष निकाल लिये।

जो व्याख्यान हमारी प्रतिबद्धता से मेल नहीं खाता वह हमारे लिए अरुचिकर बन जाता है और हम उसके विरुद्ध अपनी तीव्र प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं। पर सम्भवतः यही वह व्याख्यान है जो हमारे भीतर छिपी हुई भाव ग्रंथियों को, हमारी पाशविक वासनाओं को और हमारे मानस की सारी कुरूपता को, हमारी सारी मानसिक विकृति को एकदम नंगा करके हमारे सामने उपस्थित कर देता है। हम यदि शांतिपूर्ण और मौन चित्त से, सौम्य भाव से, किसी प्रकार से उसका अर्थ, भावार्थ निकाले बिना, उसे कोई विशेषण दिये बिना सुनें और अपने मन के छिछले स्तरों से प्रतिक्रियाएं व्यक्त किये बिना सुनें तो मानव-मन में एक भारी रूपान्तरण लाया जा सकता है। पर क्या यह सम्भव है कि हम इस प्रकार कोई व्याख्यान सुनें ? मैं मानता हूं कि यदि ऐसे व्याख्यानों के गहरे महत्त्व को अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझ लिया जाये तो मनुष्य बड़ी सरलता से यह सीख सकता है कि छिछली प्रतिक्रियाओं से प्रभावित न हो या उन्हें प्रवेश न दे। ज्यों-ज्यों प्रत्येक शब्द को शांति और संतोष के साथ सुना जाता है, त्यों-त्यों प्रत्येक शब्द गहरे से गहरे में उतरता जाता है। उसकी जो प्रतिक्रिया हो उस पर दृष्टि रखी जाये। उसे महसूस किया जाये और पूरे तौर से उसे आत्मसात् कर लिया जाये। यदि ऐसा किया जाता है तो मन का पूर्णरूपेण रूपान्तरण हो जायेगा।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि हमें शब्दों को उनकी व्याख्या किये बिना, उनका अर्थ या अनुवाद किये बिना सुनना चाहिए। इस पर यह पूछा जा सकता है कि क्या ऐसा करना सम्भव भी है ? जब हम किसी शब्द को सुनते है तो वह स्वतः ही कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है। हम अपने पूरे अस्तित्व से उस पर दृष्टि रखें और बिना किसी प्रयत्न के अत्यन्त सन्तोषपूर्वक इस प्रतिक्रिया को महसूस करें और स्वतः होने वाली इस प्रतिक्रिया की दूसरे शब्दों या प्रतीकों में कोई व्याख्या न करें। ऐसी व्याख्या, ऐसा अर्थ हमें बहुत ही छिछले स्तर पर रख देता है और यद्यपि हम यह सोचते हैं कि हम इस शब्द को समझ गये हैं पर वस्तुस्थिति यह होती है कि हमारी सारी समझदारी नष्ट हो जाती है।

वास्तविक श्रवण में एक प्रत्यक्ष ज्ञान, चैतन्य बोध का अवगम होता है। उसमे न तो हमारे अपने सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब कोई हस्तक्षेप करता है और न वक्ता का कोई प्रतिबिम्ब हस्तक्षेप करता है। यदि हम इस प्रकार पूर्णरूपेण दत्तचित्त होकर सुन सकें और जो कुछ सुनें उसके संघात को, उसके आशय को ठीक से आत्मसात् कर सकें तो सारे प्रतिबिम्ब, सारी प्रतिबद्धताएं चूर-चूर हो जायेंगी। तब मन में एक नई शक्ति आ जायेगी। उसका कायाकल्प हो जायेगा। तब वह सीखने के लिए और एक शाश्वत जीवन जीने के लिए निर्मल और चुस्त बन जायेगा। पूरे ध्यान और मनोयोग से सुनना और सीख लेना महानतम ऐसा अनुशासन या तपस्या है जो मानव-मन की सामर्थ्य में आता है। उसका पुरस्कार भी बहुत भारी है जो वर्णनातीत है। ऐसा प्रायः कहा जाता है कि परमोच्च

सत्य या वास्तविकता व्याख्यान या भाषण द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती, परन्तु यदि कोई श्रवण की, सुनने की कला सीख ले तो वह देखेगा कि ईश्वर अथवा परमपूर्ण परमशुद्ध वास्तविकता ब्रह्माण्ड के प्रत्येक केन्द्र मे अथवा कण-कण से अपने को अभिव्यक्त कर रही है। तब इस बात की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि मनुष्य किसी महान् गुरु या शिक्षक के पास जाये। उसे ग्रंथों में संगीत और पाषाणों मे प्रवचन सुनाई पड़ेंगे।

दीर्घकालीन ध्यानस्थ स्थिति से, जप से, एकाग्रता से अथवा किसी मंत्र को गुन-गुनाने से एक सम्मोह तन्मयता आ सकती है और मन में बड़ी विमुक्ति की छुटकारे की भावना भरी जा सकती परन्तु इन सब साधनों के द्वारा सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकना सदैव एक स्वप्न ही बना रहेगा। निरीक्षण और श्रवण की इन दोनों कलाओं से एक अत्यन्त प्रचण्ड बोधशक्ति आ जायेगी जो केवल आत्मा की ही नहीं होगी, अपितु सारे विश्व की होगी।

भौतिक और मनोवैज्ञानिक काल

जीवन दिक् और काल, दिक्काल दो पहियों पर घूमता है। जब हम पिछले पृष्ठों में निरीक्षण की कला का अध्ययन कर रहे थे तो हम अप्रत्यक्ष रूप से मनोवैज्ञानिक अन्तराल का ही अर्थ समझने का प्रयत्न कर रहे थे। जीवन को समझने के लिए मनुष्य को इन दोनों शब्दो के अर्थ और महत्त्व को समझ लेना पड़ेगा।

भौतिक दिक् और काल मनुष्य के लिए कोई बड़ी समस्या नही खड़ी करते। वह दिक्काल पर अपना प्रभुत्व जमाने के मार्ग पर चल पडता है और इस मामले में वह बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ता है। अस्तु भौतिक दिक्काल के अतिरिक्त मनुष्य सदैव मनोवैज्ञानिक दिक्काल की रचना करता चलता है। वह अपने-आपको इस मनोवैज्ञानिक दिक्काल का बन्दी बना लेता है और अपनी स्वतंत्रता समाप्त कर लेता है।

भौतिक काल तिथि क्रमानुसार चलता है। उसमें घटनाएं एक क्रम से घटती चलती हैं। दिन के बाद रात आती है, रात के बाद दिन। रवि के बाद सोम और सोम के बाद भौम। एक निश्चित व्यवस्थित क्रम में आता है। पर जब हम मनोवैज्ञानिक काल की ओर आते हैं जो कि स्मृति पर आधृत माना जाता है तब क्या हम एक व्यवस्थित क्रम में—आज के बाद कल और कल के बाद परसों के क्रम में—विचार करते हैं? क्या ऐसा नही होता कि अभी हम आगे की बात सोच रहे हैं और पल-भर बाद ही पीछे की बात सोचने लगते हैं। भौतिक काल में तो हम केवल आगे ही जा सकते हैं, पीछे की ओर नहीं जा सकते। जो बीत गया सो बीत गया। भूतकाल समाप्त हो गया। पर मनोवैज्ञानिक काल के साथ ऐसी बात नहीं है। मनोवैज्ञानिक काल मुख्यत भूतकाल ही है, क्योंकि वह स्मृति और विचार ही पर आधृत है। इस भूतकाल का कभी अन्त नही होता। यह कभी नहीं मरता—मनोवैज्ञानिक काल भूतकाल को सतत् पुनरुज्जीवित करता रहता है। उसमें सतत् गति बनी रहती है। वह बड़ी तीव्र गति से वर्तमान से भविष्य में दौड़ जाता है और भविष्य से भूतकाल में। मनोवैज्ञानिक काल की यह अव्यवस्थित गतिविधि—संघर्ष, दुःख और कष्ट का स्रोत बनती है। ध्यान का लक्ष्य मनोवैज्ञानिक काल और अन्तराल से मुक्त होना ही है। हम वस्तुतः कह सकते हैं कि दिक्काल का यह ज्ञान ही ध्यान है।

हम देख चुके हैं कि निरीक्षक और निरीक्षित वस्तु के बीच जो दूरी होती है वही वह क्षेत्र है जिसमे आत्म-प्रक्षेपण और अहं दोनों ही बढ़ते-पनपते हैं। सच्चे निरीक्षण में

निरीक्षक और निरीक्षित वस्तु द्रष्टा और दृश्य दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, तभी इस दूरी की, इस अन्तराल की समाप्ति होती है। इसकी समाप्ति पर ही तो बोधशक्ति, स्वतंत्रता तथा प्रेम का श्रीगणेश होता है।

उसी प्रकार यदि हम काल की ओर दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि हम निवास तो करते हैं वर्तमान में, परन्तु हम सोचा करते है या तो भूतकाल में या भविष्य काल मे, क्योंकि वर्तमान काल में तो कोई विचार रहता ही नहीं। भविष्य काल का हमारा विचार भूतकाल के हमारे अनुभवों पर आधृत रहता है अतः वह संशोधित भूतकाल ही है। यदि हमारा भूतकाल न होता तो फिर भविष्यत्काल के बारे में कोई विचार ही न किया जाता। विचार भूतकाल से वर्तमान काल में आता है और वर्तमान काल से भविष्यत्काल मे चला जाता है जैसे कि घड़ी का पैण्डुलम इधर से उधर घूमा करता है। वर्तमान काल मे वह एक क्षण के लिए भी नहीं ठहरता। सीधे-सादे शब्दों में कहें तो इसका अर्थ यह है कि विचार, जो भूतकाल या भविष्यत्काल का ही होता है, वास्तविक अस्तित्व से पृथक् होता है क्योंकि वास्तविक अस्तित्व केवल वर्तमान काल मे है। हम सौ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं परन्तु हमारा वास्तविक जीवन—हमारा वास्तविक अस्तित्व, जिसकी अनुभूति हमें किसी भी क्षण होती रहती है—वह तो वर्तमान काल ही है। हम आगामी कल की बात सोच सकते हैं पर जब वह आगामी कल आता है तो उसकी अनुभूति आगामी कल के रूप में न होकर वर्तमान आज के रूप में होती है। जीवन तो वस्तुतः केवल आज है, बीता हुआ कल और आगे आने वाला कल तो केवल विचार है और कल्पना मात्र है।

अतः जीवन को ठीक से समझने के लिए और उसका आनन्द प्राप्त करने के लिए, उसका निरीक्षण करने के लिए, उसे देखने-समझने के लिए हमें अपना सारा ध्यान आज पर सामने उपस्थित क्षण पर लगाना पड़ेगा। आधुनिक युग में हम इस बात की बड़ी चर्चा करते हैं कि हमें वर्तमान में ही जीना चाहिए। परन्तु क्षण पर क्षण जीवित रहने के लिए ऐसे शीघ्रगामी शांत मन की आवश्यकता है जो लोभ, लालच और महत्त्वाकांक्षा से मुक्त हो। साथ ही वह समृद्ध हो और शक्ति से ओतप्रोत हो। ऐसा मन गहन गम्भीर अथाह ध्यान का ही परिणाम हो सकता है। यदि हम नाम, ख्याति, धन-सम्पत्ति अथवा सत्ता या शक्ति के पीछे दौड़ रहे हैं तो हमारे पास जीवन का निरीक्षण, प्रेक्षण, अवलोकन का अवकाश ही कहां है ? जीवन की समृद्धि मे, उसकी गहराई में उतरने का अवसर ही कहां है ? और जब तक हम जीवन पर दृष्टि-पात न करें तब तक हम सदैव बाहरी सम्पत्ति और सत्ता के पीछे ही दौड़ते रहेंगे। उस दिशा में हम जो भी कदम उठायेंगे वह हमारे जीवन को अधिकाधिक दरिद्र ही बनाता चलेगा। यदि हम जीवन पर सरसरी दृष्टि डालें तो हमें ऐसा लगेगा कि उसमें भारी खोखलापन, ऊब और बोरियत भरी पड़ी है। हम इस खोखलेपन को, छिछले इन्द्रिय-जनित सुखोपभोग अथवा बाहरी ऐश्वर्य से भरने की कोशिश करते हैं, फिर भी यह अत्यन्त गहरा खाली का खाली बना रहता है। यदि हम इस ऊब से इस शून्य से परे

जाना चाहते हैं तो हम इस पर दृष्टिपात करें, पूरे तौर से इसे महसूस करें और इससे दूर न भागें। जब यह शून्य दृश्य बन जाता है और दृष्टा या 'मैं' दृश्य के साथ पूर्णतः एकाकार हो जाता है, तब उस स्थिति में शून्य का रूपान्तरण हो जाता है जिससे जीवन की समृद्धि और गहराई स्पष्टतः सामने आ जाती है। उस शक्ति और चैतन्य से हम क्षण-प्रतिक्षण का जीवन जी सकते है और वर्तमान काल में जीवित रह सकते हैं। क्या इसमें से ऐसी ध्वनि निकलती है कि हम विचार करना सर्वथा बन्द कर देंगे और हमारे मन में कोई विचार चक्कर नहीं लगायेगा ? सम्भवतः ऐसे कुछ विचार आयेंगे जो भौतिक अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। आगामी कल के लिए हमें कुछ पैसे भोजन और वस्त्र निकालकर एक ओर रख देने पड़ेंगे पर इन अनिवार्य आवश्यकताओं को छोड़कर हम अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अथवा अपने को समृद्ध बनाने के लिए धन, सम्पत्ति, सत्ता या प्रसंसा के पीछे नहीं दौड़ेंगे।

इस सादगी की ओर, इस विवेक और समझदारी की ओर बढ़ने के लिए हमें मनोवैज्ञानिक काल बार-बार उसके विविध रूपों के साथ समझ लेना पड़ेगा—जैसे, भूतकाल से भविष्यत्काल तक उठने वाला विचार, भविष्यत्काल—जिसमें हम मानते हैं कि हमें सुरक्षा और प्रसन्नता प्राप्त होगी, भूतकाल जिसमें कुछ बड़ी मीठी और सुन्दर अनुभूतियां हमें प्राप्त हुई थीं, मृत्यु जो निकट भविष्य में देर-सबेर हमें प्राप्त होगी आदि। यह विचार-प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक काल मे ही होती है। भौतिक काल में, जो कि वर्तमान है, उसमें नहीं होती। यदि हम काल पर अपना ध्यान एकाग्र करें तो हम सरलता से यह देख सकते है कि काल की सबसे छोटी इकाई 'क्षण' है। क्षण के बाद क्षण आता है। यह क्रम अनवरत रूप से शाश्वत जलूस के रूप में सतत् चलता रहता है। अपना जीवन और अस्तित्व तो हम प्रत्यक्ष महसूस करते हैं, उसका आनन्द लेते हैं। उसका अर्थ और महत्त्व काल की सबसे छोटी इकाई क्षण-भर के लिए ही है, और हम यदि एक क्षण का महत्त्व समझ सकें तो हम देखेंगे कि इस क्षण के गर्भ में अनन्त काल, शाश्वत काल छिपा हुआ है। उसी में जीवन का, मृत्यु का, सुख का, दुःख का सारा रहस्य छिपा हुआ है। किसी निश्चित क्षण में न विचार है, न भय है, न मृत्यु है। न उसमें आनन्द है, न उसमे कष्ट है और न उसमे कोई अनुभव है। मन स्थिर है, शांत है, हर प्रकार के विचार से वह मुक्त है। अस्तित्व और विचार मिलकर पूर्ण बनते हैं। मन और जीवन के जोड़ में न कोई दरार है, न कोई अन्तराल। इस कारण उसमें काल भी नहीं है। एक क्षण में काल का अस्तित्व भी देखते हैं, उसका अभाव भी देखते है एक क्षण शाश्वत भी है और शाश्वत से परे भी है। जो व्यक्ति एक क्षण को समझ लेता है वह सब कुछ समझ लेता है।

जो व्यक्ति इन पंक्तियों पर पूरा ध्यान न देगा वह ऐसा मान सकता है कि ये शब्द कवि की कोरी कल्पना है। परन्तु यदि हम अपनी ओर दृष्टि डालेंगे तो हम इन बातों में निहित सत्य को समझ लेंगे। हम एक क्षण के ऊपर विचार करें। काल की इस छोटी इकाई में क्या हम किसी बात पर विचार कर सकते हैं ? किसी भी विचार में एक क्षण से अधिक ही समय लगेगा इस क्षण में हम पूरे मनोयोग से अपने बाहर—अन्द

पास की वस्तुओं को देखें और अपने भीतर भी देखें कि क्या काल के इस छोटे अंश में किसी विचार या भाव को ग्रहण कर सकते हैं ? अब यह क्षण समाप्त हो रहा है। अगले क्षण हम फिर यही सारी प्रक्रिया दोहराकर देखें। इसका परिणाम क्या निकलता है ? वह एक ही है या पहले से कुछ भिन्न है ? मन शांत है और स्थिर है तथा जीवन क्षण-क्षण आगे बढ़ता चल रहा है। क्या इस क्षण में कोई ऊब है, कोई बोरियत है ? क्या इस क्षण में कोई हर्ष है, प्रसन्नता है ? यदि है तो हमें उसका पता नहीं है। क्या इस एक क्षण में हम किसी वस्तु के प्रति जागरूक हैं, सावधान हैं ? ऐसा लगता है कि जागरूकता भी सोने चली गई है। अब हमारे पास क्या बच जाता है ? हम यह नहीं जानते। हम मूर्ख हैं कि बुद्धिमान ? हम यह भी नहीं जानते। परन्तु इतना है कि हम जीवित हैं। हम सक्रिय हैं, क्रियाशील हैं। न हम सो रहे हैं, न मर गये हैं। यह अस्तित्व का सौंदर्य है, जिसे न तो विचार का स्पर्श होता है और न जागरूकता का। यह जीवन का सौंदर्य है, उसका ऐश्वर्य है जो एक क्षण के भीतर प्रकट हो जाता है। हम इसे क्षण के पीछे दौड़ने का खेल न बनायें। ऐसा सम्भव है कि अगले क्षण ही हम इस हर्ष से वंचित हो जायें। मनोयोगपूर्वक ध्यान न देने से यह नया खोजा हुआ प्रकाश और यह स्वातंत्र्य लुप्त हो जा सकता है। परन्तु यदि हम क्षण पर फिर ध्यान करें और इस बात का बोध हो कि वास्तविक जीवन एक क्षण का है, तब हम उस सुगन्ध और सौंदर्य का अनुभव कर सकते हैं, जो विवेक से उत्पन्न होता है :

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।

—पातंजल योग दर्शन 3/52.

"क्षण और उसके क्रम में संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करने से विवेक-जनित ज्ञान उत्पन्न होता है।" अर्थात् क्षण पर और क्षणों की परम्परा पर ध्यान एकाग्र करने से प्रकाश की प्राप्ति होती है।

जागरूकता और बोधशक्ति

हमें आशा है कि हम अब तक निरीक्षण की कला को खोजने के मार्ग पर काफी आगे बढ़ आये होंगे। हम देखते आये हैं कि जीवन में हमारे विचार, भाव, संवेग और हमारी प्रतिक्रियाएं कैसा कार्य करती हैं। हमने काल पर चिन्तन किया है। क्षण के रूप मे काल पर, विचार के रूप में काल पर, अहं के रूप में काल पर और मृत्यु के रूप मे काल पर चिन्तन किया है। इस सारे चिन्तन के बीच हम मन की अनेक जटिल और चक्करदार गतिविधियों से उत्तरोत्तर परिचित होते ही आये हैं। इस प्रकार प्रगतिशील जागरूकता ने हमारी विवेकशक्ति को एक नया आयाम प्रदान किया है। हम कभी-कभी अपनी जागरूकता का सूत्र खो देते हैं और उसके फलस्वरूप कष्ट भोगा करते हैं। हमने कितनी बार न सोचा होगा कि हम सतत् तत्परतापूर्ण जागरूकता का अभ्यास करते रहे, जिससे दु:ख और कष्ट हमारे पास न आ सकें। परन्तु क्या हम इस प्रलोभन के आगे झुक जायें ? किसी भी वस्तु का अभ्यास, भौतिक स्तर पर जहां एक आवश्यकता बन जाता है, उसे छोड़कर, हर्ष और स्वतंत्रता का आभास देगा। परन्तु क्या वास्तव में यह हमारे मन को एक विशेष निश्चल स्तर पर फंसा नहीं देता और हमारी सभी प्रकार की गतिविधियां को रोक नहीं देता, जो गतिविधियां, नयी दृष्टियां खोलने के लिए, हमे सर्वोच्च शिखर पर पहुंचाने के लिए इतनी आवश्यक है। जो मन अपने लक्ष्य और उद्देश्य के सम्बन्ध में बिना किसी आत्मप्रक्षेपण के या बिना पूर्व-निश्चित धारणाओं के अपनी यात्रा आरम्भ करता है-- जो मन अतृप्त असंतोष के साथ आगे बढ़ता है, वह अत्यन्त तीव्रगति से अग्रसर होता है और सबसे ऊंचा जा चढ़ता है।

हम ज्यों-ज्यों गहरे उतरते हैं, त्यों-त्यों मन अधिकाधिक समृद्ध होता चलता है। वह नाम, ख्याति और यौन जैसे बाहरी सुखों को कम से कम चाहता है और उन पर उत्तरोत्तर कम आश्रित रहता है। जागरूकता के उद्भव से हमे एक ज्योति का, एक प्रकाश का अनुभव हुआ जो कि अन्धकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान और आत्म-ज्ञान की ओर चलने लगती है। हमारी यात्रा का पहला छोर, पहला किनारा बना। हम उत्तरोत्तर यह महसूस कर सकते हैं कि यह जागरूकता, यह बोधशक्ति हमारे लिए एक नया बन्धन, एक नयी जंजीर और एक भार बनती चल रही है। हम यदि नया-जागृत ज्ञान से प्राप्त होने वाले नाम और ख्याति की गद्दी पर अपनी प्रतिष्ठा नहीं खड़ी करना चाहते- हम यदि अहं को उस गद्दी पर बैठाने के लिए नहीं तुले हैं तो हम उस अन्तिम

द्वार पर पहुंच गये हैं जो महाशून्य में खुलता है। यहां ज्ञान और विवेक सो जाते हैं। यहां पहुंचकर सुख और दुःख, कष्ट और प्रसन्नता के बीच का अन्तराल इतना छोटा और नगण्य-सा बन जाता है कि हम केवल एक गति ही महसूस करते हैं। यह अत्यन्त सौम्य और मृदु लहरी जैसी होती है। सकारात्मक और नकारात्मक शिव और शक्ति के बीच हम केवल इसी अत्यन्त मृदु लहरी की अनुभूति करते हैं। उस समय और कुछ शेष नहीं रहता। केवल रह जाती है अनिर्वचनीय आनन्दहीन परम आनन्द की एक स्थिति।

गुरु

गुरु कौन है ? गुरु वैयक्तिक है कि अवैयक्तिक ? क्या आध्यात्मिक प्रगति के लिए गुरु आवश्यक है ? इन अत्यन्त उचित और संगत प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

जीवन की समग्र प्रक्रिया से सत्य या वास्तविकता को पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि कहीं पर सत्य ईश्वर अथवा वास्तविकता जैसी कोई वस्तु है तो उसे जीवन के मन्दिर में ही खोजना पड़ेगा। इस जीवन से दूर विलग कोई ईश्वर हो तो वह केवल वैर-विरोध, प्रतिरोध की दिशा में ही ले जायेगा। ऐसा कोई ईश्वर यदि कहीं हो तो वह उस समग्र का जिसे हम 'जीवन' कहते हैं—एक अंश मात्र हो सकता है। जीवन बड़ी तीव्रगति से घटनाओं के दृश्यों को बदलते रहकर हमें सतत् शिक्षण दे रहा है। इससे बड़ा गुरु और कौन हो सकता है ! और वस्तुतः यह दीक्षा किसी पौधे से, किसी पुष्प से, किसी पशु से, किसी पक्षी से अथवा किसी ग्रंथ से भी प्राप्त हो सकती है।

किसी मानव व्यक्ति से भी यह प्रकाश प्राप्त हो सकता है और अनेक व्यक्तियों के लिए मानव गुरु से दीक्षा लेना आवश्यक हो सकता है। सीधे-सादे सरल व्यक्तियों के लिए जिनका चित्त निर्मल है, जिनके प्राण भावनामय हैं, जो प्राकृतिक सम्पर्क और संसर्ग में हैं, उनके लिए किसी मानव गुरु की आवश्यकता नहीं जान पड़ती क्योंकि उनका प्रत्यक्ष ज्ञान, उनका बोध खुला हुआ है और वे प्रत्येक स्रोत से शिक्षण ग्रहण करने में समर्थ हैं। परन्तु जो व्यक्ति ऐसे भाव-प्रवण नहीं हैं उनके लिए यह आवश्यक हो सकता है कि वे किसी मानव गुरु से दीक्षा ग्रहण करें। यदि इस प्रकार की आवश्यकता पड़ जाये, यदि ऐसा आश्रय लेना पड़ जाये तो ऐसे लोगों के मार्गदर्शन के लिए कुछ मुद्दे बताये जाते हैं।

सच्चा गुरु वह है जो अपने शिष्य को यह सिखाता है कि विचार किस प्रकार करना चाहिए, परन्तु यह नहीं सिखाता कि क्या विचार करना चाहिये। जो व्यक्ति अपने शिष्य में विवेक का जागरण करता है वही सच्चा गुरु है। वह उस स्नातकोत्तर कक्षा का प्राध्यापक है जो छात्र का इस प्रकार मार्गदर्शन करता है कि उसमें सच्ची जिज्ञासा की भावना उत्पन्न हो जाये। वह अपने छात्रों के शोधकार्य में उन्हें ऐसी सहायता प्रदान करता है कि वे स्वयं शोध करने में समर्थ हो सकें। ऐसा नहीं कि वह छात्र को कुछ बने-बनाये धर्म और रूढ़ियां बता दे, फिर वे कितनी ही उच्च और उत्कृष्ट क्यों न हों। ऐसे प्राध्यापक में, ऐसे शिक्षक में नम्रता, हृदय की सरलता और सत्य का प्रेम तो होना ही चाहिए, यदि वह अपने शिष्य के मन में इन गुणों को जमाना चाहता है।

उसमें शिष्य के साथ इसी स्तर पर सम्पर्क साधने की क्षमता होनी चाहिए। इसके स्थान पर यदि वह एक अधिकारी सत्ताधारी के रूप में कार्य करता है—जो प्रकृत्या ही स्वभावत: जिज्ञासा और शिक्षण में बाधा डालता है तो ऐसा गुरु सच्चा गुरु है ही नहीं। यदि वह महत्त्वाकांक्षी है, नाम, ख्याति अथवा धन-सम्पत्ति का लोलुप है, तो वह शिष्य के प्रति सच्चा, स्नेहल और प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रख ही नहीं सकता। वह उस स्थिति को संचारित कर ही नहीं सकता, जिसे हम 'प्रेम' कहते हैं।

जो व्यक्ति पूजा-अर्चा चाहता है अथवा दूसरों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करता है कि वे गुप्त या प्रकट रूप में उसकी पूजा-अर्चा करें, वह सच्चा गुरु होने की सामर्थ्य ही नही रखता। जो साधक अज्ञान से मुक्त होने के लिए परिश्रम कर रहा है उसे गुरु की आवश्यकता पड़ सकती है परन्तु उसे ऐसे गुरु की उपेक्षा करनी चाहिए जो शिष्यों की तलाश करता रहता है। केवल वही व्यक्ति दूसरे लोगों मे स्वतंत्रता के प्रेम की भावना भर सकेगा, जो स्वयं स्वतंत्र है और जो स्वतंत्रता से प्रेम करता है।

यदि किसी का गुरु ऐसा है जिसमें नम्रता नहीं है तो उसे सावधान हो जाना चाहिये कि वह एक जीवित परमेश्वर के हाथों मे पड़ गया है। यह जीवित परमेश्वर महाभयंकर और क्रूर हो सकता है। लोकतंत्र और स्वतंत्रता के सिद्धान्तों का विकास होने से, उनकी कृपा से ऐसे जीवित परमेश्वरो की सम्भावना घटती चल रही है जो बडी सख्या में मानव समुदाय पर अपना पूरा नियंत्रण रख सकें। फिर भी सच्चे साधको को इस बात से सावधान रहना चाहिए कि वे जनसमूह को प्रचार और प्रकाशन के जादू से सम्मोहित करने वालों के शिकार बनने से अपने को बचा लें। वे इस बात को सदा स्मरण रखें कि अभी जो अत्यन्त सुखद, विश्वासदायक और सुरक्षापूर्ण प्रतीत होता है वही सबसे बड़ा बन्धन बन सकता है। वह ऐसी कडी जंजीर बन सकता है जिससे कभी छुटकारा न हो सकेगा।

यदि हम सच्चा गुरु न खोज पायें—आज के विश्व में ऐसे व्यक्ति विरल हैं—तो यह बहुत अच्छा होगा कि हम निगुरे ही रहें और अकेले रहा करें, जितनी अच्छी तरह सम्भव हो, जीवन का सामना करें। यदि हम अपने प्रति ईमानदार हैं और हमारा प्रेरक हेतु स्वच्छ है तो प्रकृति कभी हमें नीचे नहीं गिरायेगी।

भारत के उपनिषद् काल में सदैव ऐसा होता रहा है कि शिष्य का विवेक जगाने के लिए गुरु सदैव उसे ऐसा मार्ग दिखाते थे कि जिससे वह स्वयं सत्य की खोज कर ले। उसकी जिज्ञासा की प्रवृत्ति को वे सदैव प्रोत्साहित करते रहते थे। उस काल के उपरान्त बहुत दिनों पर ऐसी स्थिति आई कि जिज्ञासा का स्थान सुरक्षा की सीमान्त कामना ने ले लिया। तब गुरु वैसा ही अधिकारी, सत्ताधारी बन बैठा जैसे कि निरंकुश राजा और पुजारी-पुरोहित बन बैठे। अब हम यह आशा करें कि हम एक नये युग के उषा काल में है, जब पुराने मूल्य और प्रतिमान मृतप्राय होते जा रहे हैं। इस युग मे विद्रोह की एक नई भावना जाग रही है। निरन्तर जिज्ञासा करते रहने का, सतत् प्रयत्न करते रहने का नया क्रम चल रहा है। अब जो कुछ असत्य है वह ताश के पत्तों के महल

की भाँति लड़खड़ाकर गिरने की स्थिति में पड़ गया है।

नये युग का गुरु एक नई समाज-व्यवस्था का कार्यकर्ता होगा जो अन्य समाज-सेवियों के साथ मिलकर विभिन्न स्तरों पर समाज की सेवा करेगा। अस्तु, वे कार्यकर्ता अपनी प्रतिष्ठा बनाने या बढ़ाने के लिए अपने पदों का दुरुपयोग नहीं करेंगे। जो व्यक्ति सत्य की अनुभूति करता है उसके लिए अपनी तथा दूसरों की स्वतंत्रता परम पवित्र वस्तु होती है। स्वतंत्रता का सौंदर्य ही यह है कि वह अविभाज्य होती है।

गुरु यदि अपनी अधिकारपूर्ण सत्ता न भी खड़ी करे तो शिष्य अचेतन रूप से अपनी मनोवैज्ञानिक संतुष्टि और सुरक्षा के लिए गुरु की सत्ता खड़ी कर सकता है। केवल उस स्थिति में ऐसा नहीं होगा जब शिष्य आरम्भ से ही यह सीख लेगा कि स्वतंत्रता से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। परन्तु शिष्य जब तक किसी आसक्ति में पड़ा रहता है तब तक वह सतत् कोई न कोई गुरु, कोई न कोई अधिकारी अपने ऊपर बैठाता ही है। सुखोपभोग को उसकी अपनी लालसा ही उसकी मार्गदर्शिका और गुरु बन जाती है। इन सब बातों की अनुभूति करके मनुष्य किसी बाहरी गुरु की आवश्यकता से ऊपर उठ सकता है, परन्तु अपने स्वयं के अनुभव की सत्ता वाले भीतरी गुरु का क्या होगा?

यात्रा के प्रथम चरण में ऐसा आवश्यक था कि मनुष्य स्वयं अपने अनुभव पर निर्भर रहे, किसी दूसरे के अनुभव पर निर्भर न रहे। परन्तु अब इतना अधिक अनुभव प्राप्त करने के बाद यह समझ लेने का अवसर आ गया है कि अनुभव, चाहे अपना हो चाहे पराया, वह जीवन के अथाह सागर को मापने में असमर्थ है। निरपेक्ष सत्य सारे अनुभवों के क्षेत्र से परे है। अतः जब हमारे अपने अनुभव की सत्ता समाप्त हो जाती है तो हमारे पास बचता क्या है? हम बिल्कुल हल्के हो जाते हैं। खाली हो जाते हैं। शून्य हो जाते हैं और सारे भार से मुक्त हो जाते हैं। इस शून्यता के साथ हम निर्मलता के साथ हम अनुभव की देहली पर जा पहुंचते हैं। वह अनुभूति की सर्वोच्च चोटी है। प्रत्येक वस्तु उसी में से निकलती है और विकसित होती है। वह सारे जीवन का नकारात्मक मूल स्रोत है, आदिकरण है।

इस बात की पूरी सम्भावना है कि इस पुस्तक ने कुछ लोगों को आरम्भिक प्रेरणा दी हो, अथवा उन्हें उनकी यात्रा में कभी-कभी कोई सहायता दी हो। परन्तु अब यदि वे ऐसे बिन्दु पर पहुंच सकते हैं जहां उन्हें अपनी जीवन-यात्रा में किसी पुस्तक अथवा किसी व्यक्ति पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती तो वह क्षण धन्य होगा। कारण इस यात्रा का अन्तिम छोर अकेले ही प्राप्त करना होगा, फिर वह यात्रा चाहे प्रत्यक्ष भौतिक विश्व की हो चाहे आध्यात्मिक जगत् के सर्वोच्च स्तर की हो। वह दरवाजा इतना संकरा है कि 'तामें दो न समाहिं।'

जीवन की ओर ले जाने वाला द्वार अत्यन्त संकीर्ण है और उसका मार्ग भी संकीर्ण है।

—बाइबिल नया करार
(न्यू टेस्टामेण्ट) मैथ्यू 7/14

आहार और स्वास्थ्य

प्रौढ़ शरीर में भोजन का कार्य है क्षीण ऊतकों या कोशिकाओं को पुनः स्थापित करना और शरीर के वजन को ठीक बनाये रखना। अस्तु केवल भोजन ही शरीर को शक्तिशाली बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। मानसिक और शारीरिक स्फूर्ति मनोवैज्ञानिक कारकों पर निर्भर करती है। यदि केवल भोजन ही शक्ति का उच्च स्तर बनाये रखने में समर्थ होता तो अधिकांश लोग जिन चाय, कॉफी, शराब जैसे उद्दीपक पदार्थों के अभ्यस्त होते हैं उन उद्दीपकों की कोई आवश्यकता न पड़ती। यदि कोई व्यक्ति शांत और ध्यानमय स्थिति वाले मन का विकास करता है तो खानपान और निद्रा सम्बन्धी उसकी भौतिक आवश्यकताओं में परिवर्तन होने की सम्भावनाएं हैं। वह पहले जितना खाना खाता था वह मात्रा उसे अधिक लग सकती है और उसके कारण शरीर का वजन बढ़ सकता है। आलस्य आ सकता है। बीमारी आ सकती है। यदि भोजन पर मनोवैज्ञानिक निर्भरता समाप्त की जा सके तो शरीर थोड़े भोजन से ही अपने को समजित करना सीख लेता है और उससे भी ऊंचे स्तर वाली शारीरिक और मानसिक स्फूर्ति बनाई रखी जा सकती है। सुसम्बद्ध और सगठित जीवन के लिए शरीर और मन की ऐसी पारस्परिक क्रिया स्वाभाविक और सहायक होती है परन्तु उपवास, अनाहार, अर्ध-अनाहार, हठयोग औषधियों या आत्म-सम्मोहन के आधार पर आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक स्थितियों का विकास अवांछनीय है। इस प्रकार की बाह्य प्रेरित स्थितियां अपनी खण्डित प्रकृति के कारण समग्र व्यक्तित्व का निर्माण नही कर सकतीं।

प्रायः सभी साधक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न करते रहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन के लिए किस प्रकार का भोजन अनुकूल पड़ेगा। जैसा कि अन्य दिशाओं मे है, वैसा ही भोजन के सम्बन्ध में अपने मन में अत्यधिक प्रतिबद्धता अवांछनीय है। इतना तो स्पष्ट है कि भोजन पर्याप्त होना चाहिए और पौष्टिक भी होना चाहिए। परन्तु उसकी कसौटी क्या हो ? पोषण सम्बन्धी विज्ञान अभी भी प्रारम्भिक अवस्था में है। शरीर पर भोजन के प्रभावपूर्ण अनुकूल परिणामों का, भूख से अधिक खाने का, जोखिमों का, नाना प्रकार के अस्वाभाविक भोजनों की प्रतिक्रियाओं का, अथवा विशिष्ट भोजनों की माग आदि का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए अभी बहुत अधिक शोध करना बाकी है। ऐसी परिस्थितियों में पोषणशास्त्रियों की एकपक्षीय बातें आंख मूंदकर स्वीकार कर लेना अवैज्ञानिक भी है और खतरनाक भी।

सभ्य पुरुष ने स्वाद के सम्बन्ध में अनेक आदतें डाल रखी है, अनेक युक्तियां निकाल रखी हैं। ये सभी स्वस्थ जीवन के लिए लाभकर ही होंगी, ऐसा नहीं है। प्रकृति ने हमें स्वाद के अंकुर दे रखे हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य अपने शरीर के लिए उपयुक्त भोजन का चुनाव कर सकता है और हानिकारक भोजन का त्याग कर सकता है। परन्तु मनुष्य तो अपनी बुद्धि का उपयोग करता है, या कहिये बुद्धि का दुरुपयोग करता है, और उसने भूख बढ़ाने के लिए नमक, मिर्च, मसाला, चीनी आदि बड़ी मात्रा में खाने की आदत डाल ली है। इस प्रकार उसने सच्ची भूख को, स्वाद ग्रहण करने की अपनी क्षमता को मन्द कर डाला है। इस प्रकार उसने अनुपयुक्त आहार को बहुत अधिक मात्रा मे खाने के लिए बाढ़ द्वार खोल रखे है। आधुनिक सभ्यता की अधिकांश बीमारियां इसी पेटूपन और अनुपयुक्त भोजन के कारण है।

इधर कुछ दिनों से प्रकृति की ओर लौटने का एक नारा चल पड़ा है जो सम्भवतः पोषणशास्त्रियों की उपेक्षा के रूप में है। पर इस बात का सुझाव देने के लिए अनेक प्रमाण उपस्थित है कि मनुष्यों और पशुओं में ऐसी निहित मनोवैज्ञानिक यन्त्र-रचना है जो पौष्टिक आहार चुनने के लिए उनका मार्गदर्शन करती है। उसमे शर्त यही है कि यह चुनाव अन्य कारणों या तथ्यों द्वारा अत्यधिक संकुचित न कर दिया जाये। यह मान लिया जा सकता है कि हम कुछ भोजनों को शारीरिक विकास की भावना के साथ जोड़ना सीखते हैं।[1]

सामान्यतः हम देखते हैं कि कुत्ते को यदि कब्ज हो जाता है तो वह अपने स्वाभाविक भोजन की अपेक्षा घास खाना अधिक पसन्द करता है। यह एक उदाहरण है, जिसे योगियों की भाषा में 'शरीर की चेतना' कहा जाता है। सभ्य पुरुष में नाना प्रकार के मनोभावों, अनेक आदतों, व्यसनों और छिछले सुखों के विस्तार द्वारा यह चेतना या तो मन्द बना दी गई है या लगभग समाप्त कर दी गई है। इसने अपनी ओर से स्वस्थ और सबल शरीर के स्वाभाविक सुखों और शारीरिक स्वास्थ्य को नष्ट करने वाले कृत्रिम सुखो के बीच एक संघर्ष लाकर खड़ा कर दिया है। मनुष्य यदि सुख और आनन्द से भरा सामंजस्यपूर्ण जीवन जीना चाहता है तो उसे शरीर की इस चेतना को फिर से खोजना पड़ेगा।

मन ज्यों-ज्यों अधिक भावनाशील और शक्तिशाली बनता चलता है त्यों-त्यो वह प्रायः देखता है कि तन और मन को सचेत करने के लिए बाहरी उद्दीपन अनावश्यक है। तब अत्यधिक मात्रा में भोजन करने की अथवा बहुत ऊंचे प्रकार के सिझाये भोजन की और पशुओ के मांस आदि से प्राप्त भोजन की आवश्यकता उत्तरोत्तर घटती चली जाती है।

20 से 25 साल की आयु के भीतर शरीर की वृद्धि, उसका बढ़ना-पनपना समाप्त हो जाता है। जीवन की इस अवधि के बाद शरीर मे धीमे-धीमे उसे बिगाड़ देने वाले परिवर्तन होने लगते हैं। जैसे धमनी काठिन्य (Arteriosclerosis) जिसमें धमनी

1 राइट और सेमसन - एप्लाइड [illegible] सर्वा [illegible] पृष्ठ 445

की दीवारें कड़ी पड जाती हैं। अधिक कैलरी (ऊष्मांक) अधिक वसा और अधिक प्रोटीन वाला भोजन करने से धमनी का यह कठोरपन जल्दी आता है। समुचित व्यायाम और गहरे श्वास अभ्यास के साथ-साथ यदि निम्नांकित नियमों के अनुसार चला जाये तो शरीर को स्वस्थ बनाये रखने मे सहायता मिलेगी और उसके साथ-साथ शरीर को बिगाड़ने वाले परिवर्तन भी घटते चले जायेंगे।

1. इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि शरीर मे होने वाली छीजन की पूर्ति के लिए भोजन होता है। उद्दीपन अथवा शक्ति का तात्कालिक सीधा स्रोत मन है। मन जब निरर्थक विचार-प्रक्रियाओ और भ्रामक विश्वासों के कारण होने वाले अनावश्यक शक्ति क्षय से मुक्त रहता है तो उसमें अपनी निजी शक्ति भरी रहती है जबकि सामान्य मन उद्दीपन के लिए आहार पर, धन पर और भौतिक पदार्थों पर ही निर्भर रहेगा।

2. जब तक सच्ची तेज, स्वाभाविक भूख न लगी हो तब तक कुछ भी नही खाना चाहिए। सापेक्षिक खालीपन की सरल सनसनी केवल मनोवैज्ञानिक भूख होती है। वह भोजन करने के लिए सच्ची मार्गदर्शिका नहीं है।

3. भोजन धीरे-धीरे करना चाहिए। खूब चबा-चबाकर करना चाहिए। खाते समय भोजन की ओर तथा खाने की प्रक्रिया की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए। जब तक ऐसा ध्यान नहीं दिया जायेगा तब तक सही मात्रा मे सही भोजन नहीं किया जा सकता और ठीक ढंग से उसका परिपाचन नहीं हो सकता।

संतुलित भोजन से और मिताहार से शरीर ठीक ढंग से काम करता है। उससे शरीर को भी और मन को भी नई शक्ति प्राप्त होगी। यदि कोई व्यक्ति ध्यानमय जीवन बिताता है—एकान्तवास अथवा जड समाधि के जीवन को बिताता है, इसकी बात नही, अपितु सक्रिय ध्यान का, क्षण-क्षण उसे समझने का जीवन बिताता है—तो यह आवश्यक है कि शरीर की आवश्यकताओं के अनुकूल भोजन पर कड़ा नियंत्रण रखा जाये। पेटूपन का मजा न लिया जाये जिसके कि आज अधिकांश लोग अभ्यस्त है। ऐसा करने पर ही तन और मन समरसता से, तालमेल से अपना काम कर सकेंगे। तब शायद मनुष्य मधुमेह, तीव्र रक्तचाप, हृदयकष्ट और कैंसर जैसी भयंकर बीमारियों से मुक्त रह सकेंगे।

शारीरिक श्रम करने वाले श्रमशील सक्रिय लोगों में जो भूख रहती है वह शरीर की पोषक आवश्यकताओं के ही अनुकूल होती है। अस्तु जो लोग श्रम नही करते, ठलुआ रहते हैं, उन लोगों में इस प्रकार की यान्त्रिक क्रिया बहुत कम देखने में आती है। अतः सामंजस्यपूर्ण स्तर पर शारीरिक क्रिया को संतुलित करने के लिए पर्याप्त दैनिक व्यायाम आवश्यक है। उसके लिए 4/5 मील प्रति घण्टे की चाल से घूमा भी जा सकता है अथवा आध घण्टे तक धीरे-धीरे दौड़ने का अभ्यास भी किया जा सकता है।

निद्रा और स्वप्न

शरीर-शास्त्री अभी तक स्पष्ट रूप में इस बात की व्याख्या नहीं कर पाये हैं कि नींद की आवश्यकता क्या है और उसकी क्रियाविधि क्या है। नींद लगने के दो सर्व-सामान्य कारण हैं—एक है संवेदनात्मक उद्दीपन का ह्रास और दूसरा है संवेदनीय उद्दीपन के रहते हुए अत्यधिक थकावट। अस्तु, प्रश्न यह है कि मस्तिष्क का कौन-सा भाग थकावट अनुभव करता है और इस थकान से छुटकारा पाने में उसे कितना समय लगता है। इलेक्ट्रोइंसफेलोग्राम (Electroencephalogram) में दिखने वाली डेल्टा लहरें (100 माइक्रोवोल्ट तक) बताती हैं कि स्वप्नावस्था में भी मस्तिष्क में कुछ मात्रा मे गतिविध हलचल या क्रियाशीलता रहती है, भले ही वह धीमी और आवृत्तिहीन हो।

यह कहा जा सकता है कि सोना, नींद लेना एक आदत है जिसमें आदिकालीन जडता, आदिम निश्चेष्टता की एक झांकी मिलती है। जैसे ही मानसिक हलचल बन्द होती है, मन खाली होता है, वैसे ही उसमें सो जाने की भावना आ जाती है। ध्यान-कर्ताओं के प्रारम्भिक अनुभव की यह सर्व-सामान्य बात है। यदि बैठने की मुद्रा में मेरु-दण्ड के साथ-साथ गर्दन भी सीधी और खडी रखी जाये, एक सीध में रखी जाये तो नींद को टाला जा सकता है। परन्तु गर्दन यदि झुकी हुई, नीचे लटकती हुई रखी जाये तो नींद के आ टपकने की सम्भावना रहती है। यदि किसी व्यक्ति को सोने और जागने के बीच की अर्ध-जागरण की अथवा सम्मोहक स्थिति की जानकारी हो जाये तो वह अचेतन की एक झांकी कर सकता है और इस प्रकार कितने ही मानसिक संवेदनात्मक अनुभवो और क्षमताओं का विकास किया जा सकता है। चैकोस्लोवाकिया के डाक्टर मिलान रिजील ने अपने 'विषयी' पात्रों (Subjects) में सम्मोहन द्वारा अतिरिक्त संवेदनीय (Exra-sensory Perception) प्रत्यक्ष ज्ञान का विकास किया है।

स्वप्न में अचेतन विभिन्न प्रतीकों द्वारा अपना प्रक्षेपण करता है, जिसका कि हम स्वप्नों में अनुभव करते हैं। इन प्रतीकों या स्वप्नों की व्याख्या से हम अपने अचेतन मन की आन्तरिक स्थिति जान सकते हैं। इन स्वप्नों में कुछ स्वप्न ऐसे हो सकते हैं जो कि भविष्यसूचक ढंग के होते हैं और इनमे जो सजीवता, स्पष्टता, प्रकाश और आभा रहती है उसमे उन्हे अन्य धूमिल, भ्रान्तिपूर्ण, ऊबड़-खाबड स्वप्नों से अलग करने मे सहायता मिलती है। अस्तु सच्चे ध्यान का उद्देश्य स्वप्नों का विवेचन करना नहीं है। सर्वोच्च ध्यान का लक्ष्य होता है सारे मानस को शुद्ध करना और चेतन-अचेतन के बीच होने

वाले संघर्ष को समाप्त करना। इस संघर्ष की समाप्ति के साथ स्वप्नों की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। मन जब इस प्रकार मुक्त हो जाता है तब उसे बहुत कम घण्टों स्वप्नरहित गाढ़ गम्भीर निन्द्रा की आवश्यकता रह जाती है।

परम शक्तिशाली मानस जो कि संघर्ष से मुक्त हो जाता है और जो ऊब से ऊपर उठ जाता है वह अपने परिवेश से, अपने पर्यावरण से मुक्त हो जाता है। परम सुखमय, आनन्दपूर्ण, पूर्ण संतोषपूर्ण जीवन जीने के लिए न तो किसी बाहरी उद्दीपन की आवश्यकता है और न किसी भीतरी उद्दीपन की ही आवश्यकता है।

युक्ताहारविहारस्य
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दुःखहा॥

—भगवद्गीता 6/17.

यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने वाले तथा जागने वाले का योग दुःखों का नाश करने वाला होता है।

योग (पूर्ण योग—जो दुःख का अन्त कर देता है) केवल उसी व्यक्ति के लिए सम्भव है जो खाने और पीने में, कर्म करने मे, सोने में और जागने में उचित रीति से संतुलित रहता है।

समर्पण

क्या आपने कभी इस बात की ओर ध्यान दिया है कि कभी-कभी सहज स्वाभाविक भाव से वस्तुएं आपके पास आ जाती हैं। आप देखते हैं और स्पष्ट रूप से आप देख सकते हैं। आप सुनते है और पूरे मनोयोग से सुन पाते हैं। आप ध्यान करने बैठते हैं और आपको सहज भाव से ऐसा लगता है कि आप बड़ी सरलता से मन की गहनतम सीढ़ियों में उतरते जा रहे हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसे क्षण आते है, जब पूरी शक्ति लगाने पर, पूरा उद्योग करने पर भी ऐसा नहीं होता। आपने जिसे अत्यन्त आसान समझा था वह आपके लिए असम्भव-सा बन जाता है। अब आप क्या करेंगे ? आप अत्यन्त हताश और निराश हो जाते हैं, परन्तु आप कर क्या सकते हैं ? क्या आप इसके अतिरिक्त और कुछ कर सकते हैं ? क्या आपने अपने प्रयत्न में कोई कसर छोड़ रखी है ? नहीं। आप अपने प्रयत्न की सीमा पर पहुंच गये हैं। अपने मन की सीमा पर पहुंचे हैं। अब अपनी सीमा को पहचानें और अपनी पराजय स्वीकार कर लें। जिस क्षण आप अपनी सीमा को समझ लेते हैं उसी क्षण आपका मन स्वतः शांत और स्थिर हो जाता है। इसका नाम है – समर्पण। परन्तु यह ईश्वरेच्छा के आगे समर्पण नहीं है। कारण, न तो आप ईश्वर को जानते हैं और न उसकी इच्छा को ही जानते हैं। यदि आपको ऐसा ज्ञान होता, आप ऐसे चतुर होते तो आपको न तो किसी ग्रन्थ की आवश्यकता होती और न किसी साधना की। इसलिए आप अपने-आपको धोखा मत दीजिए। उसके स्थान पर आप सरल और नम्र बन जाइये। तथ्यों को पहचानकर समर्पण करना सीखिये। कारण, मूलतः आपमें ऐसी कोई शक्ति नहीं कि आप किसी तथ्य को बदल दें। आप चाहे जितना प्रयत्न करें, कड़े से कड़ा प्रयत्न करें पर आप अपने मन की सीमा से ऊपर नहीं उठ सकते। अपनी सीमा के तथ्य के आगे समर्पण करना आप सीख लीजिए। जिस क्षण आप ऐसा करते हैं उसी क्षण क्या होता है ? आपने जिसे अत्यन्त कठिन, सर्वथा असम्भव माना था वह आपके आगे घुटने टेक देता है, पूर्ण सम्भव बन जाता है। यह समर्पण का जादू है। ऐसी कोई घाटी नहीं है जिसे आप समर्पण की कला के सहारे पार न कर सकें। समर्पण का अर्थ यह नहीं कि आप सदा के लिए स्थायी तौर पर अपनी पराजय स्वीकार कर लें। संसार में कभी कोई स्थायी जय या स्थायी पराजय नहीं होती। और किसी तथ्य के प्रति कोई स्थायी समर्पण भी नहीं हो सकता। कारण, कोई भी तथ्य स्थायी नहीं है। समर्पण का अर्थ निष्क्रियता, सुस्ती, काहिली अथवा निश्चेष्टता नहीं है। उसका अर्थ

है किसी तथ्य का डटकर सामना करना, उसे समग्र रूप से देखना और उसका स्पर्श करना और ऐसा करते हुए उस मौन में चले जाना जिसमें सर्वोच्च सत्ता, महानतम शक्ति अपने कार्य के लिए सदैव प्रतीक्षा करती रहती है। वह शक्ति शांतिपूर्वक परन्तु निश्चित रूप से अपना काम करती है और जैसे ही वह गतिशील होती है, वैसे ही मनुष्य में नई स्फूर्ति आ जाती है, मन में ताजगी आ जाती है और आन्तरिक यात्रा पर तीव्रगति से अग्रसर होने के लिए एक नई शक्ति आ जाती है।

समर्पण आपके स्वभाव के हीन तत्त्वों के साथ कोई समझौता नहीं है। वह मानवीय स्तर पर बुद्धि की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। आप यदि किसी उकताने वाली समस्या के विचलन से व्यथित हैं तो शांत और स्थिर होकर समर्पण करना सीखें। उस समस्या से लड़ने-जूझने, उसे दबाने में अथवा उसके उदात्तीकरण में अपनी शक्ति का अपव्यय न करें। इस अपव्यय द्वारा आप कहीं न पहुंच पायेंगे। उसका कुछ परिणाम नहीं निकलेगा। उसका सामना करिये, उसे पूर्णतः स्पर्श करिये और तब सुधार अथवा संशोधन की कोई बात सोचे बिना अपने मन के कार्यकलापों के आगे समर्पण कर दीजिये। ऐसा करने पर जो सुख और शांति मिलेगी, जो चैन मिलेगा उसे देखकर आप आश्चर्यचकित रह जायेंगे। आप देखेंगे कि आपके सारे खिंचाव, सारे झटके, सारे दबाव एकदम समाप्त हो गये, पूर्णतः मिट गये हैं।

यहां पर एक समस्या खड़ी हो सकती है। समर्पण अभी तत्काल हो सकता है। इसी क्षण हो सकता है परन्तु दूसरे क्षण कोई दुर्बलता सिर उठा सकती है, कोई विचलन सामने आ सकती है। यह कोई स्थायी समाधान नहीं लगता। इसलिए होता है कि आप मन की सारी क्रियाविधि से, उसके पूरे यंत्र से भली-भांति परिचित नहीं हैं और सम्भवतः इसलिए भी कि आप पूरे तौर से सावधान नहीं हैं। परन्तु इस बात को आप स्मरण रखिये कि आप एक बार जो कर सकते हैं उसे दुबारा भी कर सकते हैं। यदि आप किसी समस्या को मूल्य रूप से जड़मूल से एक बार हल कर सकते हैं तो पुनः हल करने की आवश्यकता आने पर आपके मन को फिर से वैसी शक्ति मिल जायेगी। अत: आप इस श्रद्धा पर अटल रह सकते हैं। जीवन में समस्याएं तो सदैव आती रहेंगी परन्तु आप यदि किसी एक समस्या को पूर्णतः हल कर सकते हैं तो आप सभी समस्याओं को हल कर सकेंगे।

मानव-मन की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह किसी समस्या को पूर्णतः पूरे तौर पर नहीं समझता। तो आप देखेंगे कि समस्या को पूरी तरह से समझ लेने की क्रिया ही समस्या का समाधान है। उसके बाद की जाने वाली भौतिक क्रिया तो एक सरल बात है। किसी समस्या को समझ लेना ही उसका निदान है। किसी प्रश्न को समझ लेना ही उसका उत्तर है। प्रकृति इतनी नम्र और करुणामयी है कि उसने रोग और उसकी दवा, समस्या और उसका हल, प्रश्न और उसका उत्तर दोनों को इतना निकट रख दिया है कि उसके लिए आपको कोई बड़ी मेहनत, कोई कड़ा संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं है किसी समस्या पर अपना पूरा ध्यान लगाइये और उसका आपके पास आ

जायेगा। किसी समस्या को पूर्ण रूप से समझना, किसी प्रश्न को ठीक ढंग से गढ़ना सर्वोच्च बुद्धि का काम है। आप यदि ऐसा कर सकें तो आप परम हिंसापूर्ण पागलपन और उथल-पुथल से भरे हुए विश्व के भीतर भी प्रयत्नशून्य शान्तिपूर्ण जीवन जी सकते हैं। तभी आप यह समझ सकेंगे कि स्वतंत्रता मुख्यतः परिवेश से मुक्त होना ही है और उससे बिना प्रभावित हुए जीवन जीना है।

शिवजी और उनके दो पुत्रों गणेश और कार्तिकेय के सम्बन्ध में एक कथा है। इन दोनों पुत्रों ने यह निश्चय किया कि दो में से जो व्यक्ति तीनों विश्वों की परिक्रमा करके पहले आ जायेगा वही बड़ा माना जायेगा। कार्तिकेय के पास तीव्र गति वाली सवारी थी। वे उस पर सवार होकर बड़ी तेजी से विश्व-परिक्रमा के लिए निकल पड़े। गणेश के पास बड़ी धीमी चाल वाली सवारी थी। इसलिए उन्होंने समझ लिया कि इस सवारी को लेकर दौड़ में पड़ना व्यर्थ है। वे अपने पिता की ही तीन बार परिक्रमा करके शांत होकर बैठ गये। कार्तिकेय जब थके-मांदे हांफते हुए लौटे तो गणेश ने घोषणा की कि कार्तिकेय दौड़ में हार गये। उन्होंने अपनी बात की व्याख्या करते हुए कहा कि भगवान् शिव सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। उनकी तीन बार परिक्रमा करने का अर्थ है सारे ब्रह्माण्ड की तीन बार परिक्रमा कर लेना। हिन्दू पौराणिक कथा शास्त्र के अनुसार गणेश बुद्धि के देवता हैं—'विद्यावारिधि बुद्धि विधाता:' हैं। बुद्धि तो इसी में है कि हम अपनी सीमाएं, अपनी मर्यादाएं ठीक ढंग से समझ लें और अपनी विवशता के तथ्य के समक्ष आत्मसमर्पण कर दें। उत्तेजित, मूर्खतापूर्ण कार्यकलाप और उसके साथ जुड़ा हुआ आंतरिक संक्षोभ, भीतरी बेचैनी हमें कहीं नहीं पहुंचा पायेगी। अपनी आध्यात्मिक यात्रा में सच्ची प्रगति करने के लिए हमें समर्पण की कला सीखनी होगी। कर्मकाण्ड अभ्यास और बाहरी अनुशासनों द्वारा सत्य की अनुभूति नहीं की जा सकती। अपनी सीमाओं को, अपनी मर्यादाओं को पहचानिये और समर्पण करना सीख लीजिये। तब बिना बुलाये ही सत्य आपके पास आ जायेगा। उसी प्रकार सिद्धियों या चमत्कारों के फेर में मत पड़िये। आपने यदि समर्पण की कला सीख ली है और आप शांति की गोद में उतर सकते है, तो ये शक्तियां आपको खोजती हुई आपके पास आ सकती हैं पर सम्भवतः उस स्तर पर पहुंच जाने पर वे आपके लिए व्यर्थ और महत्त्वहीन बनकर रह जायेंगी।

इस समर्पण कला का सौंदर्य यह है कि दूसरों की अपेक्षा आप आध्यात्मिक प्रज्ञा के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच सकते हैं। फिर भी अहं आपको स्पर्श नहीं करेगा। कारण, आप इस बात को जान जायेंगे कि आप जो कुछ हैं सो आपके समर्पण का ही परिणाम है, न कि किसी अभ्यास का। सर्वोच्च शिखर पर भी नम्रता आपका साथ नहीं छोड़ेगी। कारण, नम्रता में ही सच्ची शुद्धता, सच्चा शील पुष्पित-पल्लवित हो सकता है।

कुछ साधना पद्धतियों अथवा एकाग्रता आदि के सहारे आप अन्तर्ज्ञानीय अथवा मनोवैज्ञानिकीय धरातल के सर्वोच्च बिन्दु पर पहुंच सकते हैं परन्तु कोई भी पद्धति ऐसी नहीं है जो आपको मनोवैज्ञानिक स्तर से बाहर निकाल सके। कुण्डलिनी-योग की मूब

और रहस्यमय भाषा में आप सप्तम चक्र (सहस्रार चक्र—जो शीर्ष मुकुट में सहस्र पंखुड़ियों वाला कमल है) तक पहुंच सकते हैं अथवा सप्तम लोक (सतलोक) में पहुंच सकते हैं। यह धनात्मकता का स्तर है। रंगावली के सप्तरंगों के सम्मिश्रण श्वेत रंग से इसका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। आप सिद्धियां प्राप्त कर सकते हैं। परम संतोष प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यहां पर पहुंचकर भी शुद्ध प्रेम और आनन्द की अनुभूति नहीं होगी। सातवां धरातल मानव-मन की खोल का चरम बिन्दु है। कोई भी कड़े से कड़ा प्रयत्न भी इसे भंग नहीं कर सकता। कोई भी पद्धति, कोई भी अनुशासन, कोई भी गुरु आपको इसके ऊपर नहीं ले जा सकता। केवल निरीक्षण की शांत ध्यान-प्रक्रिया द्वारा ही आप इस बात की अनुभूति कर सकते हैं कि आपके मन ने अब तक जो कुछ अनुभव किया है या भविष्य में करने के लिए आप जो योजना बना सकेंगे वह सब सीमित है और वह आपको मुक्ति तक नहीं ले जा सकता। इस नकारात्मक स्थिति पर पहुंचने पर—इसे आठवां धरातल कहा जा सकता है—सारी सिद्धियां और सारी शक्तियां लुप्त हो जाती हैं और आपके मन को केवल मौन की ही जानकारी रहती है। प्रश्न है कि अब क्या आप इस नकारात्मक स्थिति में मौन की स्थिति में टिके रह सकते हैं और प्रत्येक आशा, आकांक्षा अथवा परलोक की छवि का पूर्ण परित्याग कर सकते हैं? यहां तक कि आप मुक्ति की आशा भी छोड़ दे सकते हैं? यह है समर्पण। यही है वह परमोच्च साधन जो आपको 'मैं' और 'मेरा' के खोल से ऊपर ले जा सकता है। समर्पण और सन्तोष यही दो तथ्य हैं जिनके परस्पर मिलन से आणविक विस्फोट से कहीं अधिक बड़ा, कहीं अधिक शक्तिशाली विस्फोट महानतम विस्फोट होता है। इसके कारण मानव-मन का पूर्णरूपेण रूपान्तरण हो जाता है और प्रेम की ज्योति से उजाला किया जाता है जो मानवीय होने के साथ-साथ दैवी भी है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि उच्चतम आध्यात्मिक क्षेत्र के लिए शांतिपूर्ण ध्यान सबसे छोटा और सबसे सुरक्षित मार्ग है। उसमें मानसिक मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के, उसके सिद्धियों और शक्तियों के कोई खतरे नहीं रहते। आप यदि अपने प्रयत्न में उत्साही हैं, गम्भीर हैं और सर्वोच्च सत्य तथा जीवन का अर्थ और महत्त्व समझने के लिए उत्सुक हैं तो सबसे सरल मार्ग यही है। अस्तु, समग्र एकीकरण के लिए मनुष्य को अन्तः-स्फूर्तिदायक मनोवैज्ञानिकीय स्तर पर अचेतन मन की गहनतम सतह पर दृष्टिपात करना होगा—जिसकी रूपरेखा 'सर्वोच्च संकल्पना' शीर्षक वाले अध्याय में दी जा चुकी है। इस धरातल से गुजरते समय मनुष्य की सिद्धियां और शक्तियां आपके समीप आ सकती हैं, आपके पीछे दौड़ सकती हैं, परन्तु आप इनके पीछे न दौड़ें। केवल तब आप अपनी नम्रता को बनाये रख सकेंगे। प्रेम केवल नम्रता के भीतर खिल सकता है। प्रेम और सिद्धि अथवा सत्ता शायद ही कभी एक साथ रह पाते हों। प्रेम को छोड़कर प्रत्येक शक्ति संघर्षशील शक्ति होती है। केवल प्रेम-शक्ति ही ऐसी शक्ति है, महान् शक्ति है जिसमे घर्षण और संघर्ष रह नहीं सकते।

प्रेम के सम्बन्ध में आपके अनेक मनोभाव हो सकते हैं। सम्भव है आपने प्रेम की

अनेक परिभाषाएं पढ़ी हों परन्तु वह सब प्रेम नहीं है। प्रेम तो वह विस्फोट है जो आपके भीतर उस समय घटित होता है जब आप मौन की स्थिति में होते हैं। प्रेम सारी परिभाषाओं की, सारी व्याख्याओं की आपत्ति और अपेक्षा कर देता है। इस विस्फोट का प्रकाश एक क्षण भी टिक सकता है, कई घण्टों तक भी टिक सकता है, कई-कई दिनों तक भी टिक सकता है। उसके टिकने की अवधि आपकी पूर्व तैयारी पर, आपकी सरलता पर निर्भर करती है। परन्तु जब भी यह प्रकाश आता है तो वह इस प्रकार आपको अभिभूत कर लेता है, इस प्रकार आपको जकड़ और पकड़ लेता है कि आप सावधान न रहें तो आप अपने पुराने यांत्रिक मन में फिसल जा सकते हैं, परन्तु आप उसमें स्थायी रूप से लौट नहीं सकते। आप यदि उससे हाथ नहीं जोड़ लेंगे, 'नमस्कार' कहकर उसे छोड़ नहीं देंगे तो आप केवल अपना दुःख और कष्ट ही बढ़ायेंगे। आपके आगे सर्वोच्च शिखर की ओर बढ़ने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं रह जाता—अन्य कोई विकल्प ही नहीं बचता। यह बात दूसरी है कि आप उस मार्ग पर धीरे-धीरे चलते हैं या तेजी से। यह अवसर तो आपको उस समय मिला था जब आप अपने विकास के संक्रमण काल में थे। उस समय उसने आपको स्वतंत्रता का और दायित्व की भावना का अवसर प्रदान किया था। जैसे पशु के पास अपनी सहज, नैसर्गिक वृत्ति मूल प्रवृत्ति के पीछे चलने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं रहता, वैसे ही उस मनुष्य के पास जो अहं की खोल के परे चला गया है, दूसरा कोई विकल्प नहीं रह जाता। तब दैवी प्रकृति का ऐसा खेल होता है, जिसमें अन्य किसी विकल्प के लिए स्थान ही नहीं रह जाता।

आप अपने मार्ग पर पर्याप्त आगे बढ़ सकते हैं—परन्तु यहां आपकी अहं की मापछड़ी नहीं है। इसलिए आपको अपनी प्रगति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ऐसी स्थिति में कभी-कभी आपको अपने भूतकाल की, अपने अर्ध-पाशविक और अर्ध-मानवीय जीवनकाल की स्मृतियां आ सकती हैं। आपको इन स्मृतियों का केवल निरीक्षण करते रहना है और उन्हें इतनी समग्रता के साथ महसूस करना है कि आपके भूतकाल का कुछ भी अंश अवशिष्ट न रहे। तब आप ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करेंगे जहां आपको न तो मुक्ति में कोई रस रह जायेगा और न बोधशक्ति में ही। पहले जिस प्रकार सिद्धियां आपके पीछे पड़ी थीं उसी प्रकार अब मुक्ति भी आपके पीछे पड़ेगी। तब यदि आप इस सर्वोच्च शक्ति के साथ अपने को एकाकार करने की भूल नहीं करेंगे—उससे आप की यात्रा में बाधा पड़ेगी—तो आप देखेंगे कि केवल एक दैवी गतिविधि हो रही है, न कोई दृष्टा है न कोई दृश्य। न कोई प्रेमी है न कोई प्रेमास्पद।

यह स्थिति पराभक्ति की है, जिसमें कोई आराध्य नहीं है। यह ज्ञान और बोधशक्ति की सर्वोच्च मंजिल है जहां ये दोनों ही प्रेम के समुद्र में विलीन हो जाते हैं। यदि आपने अपनी यात्रा अतृप्त असंतोष और गम्भीरता के साथ आरम्भ की है तो इस चोटी पर पहुंच करके भी आप संतुष्ट नहीं होंगे। चूंकि अब आपको न तो बोध-शक्ति में कोई रस है और न मुक्ति में ही कोई रस है, आप किसी भी वस्तु के साथ तदाकार नहीं होना चाहते। अतः आपके लिए उस मंजिल पर जाने का मार्ग खुल जायेगा, जहां न सुख है न

कोई दुःख—कोई अनुभूति ही नहीं है। इस स्थिति की कल्पना भी भयोत्पादक है परन्तु अनुभव करने के लिए यह परम सुन्दर वस्तु है। यह अनुभव से अननुभव का पारगमन है।

समर्पण और धैर्य के अतिरिक्त महाशून्य के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। उसके अलावा अन्य कोई पद्धति या उपाय नहीं है। वहां पर सारे मार्गों का, सारी पद्धतियों का अंतिम छोर आ जाता है। यह वह परमोच्च क्षण है जब सत्ता का अन्त हो जाता है और या सारे ग्रन्थ अर्थहीन हो जाते हैं, अथवा सच्चे अर्थ से ओतप्रोत हो जाते हैं। अब आपको न किसी ग्रन्थ की आवश्यकता है और न किसी गुरु की। अब स्वयं आपके भीतर से देवत्व श्वास भरने लगता है। अपने को अभिव्यक्त करने लगता है। अब खानपान, भोजन और टहलना-घूमना ही सर्वोच्च चमत्कार का रूप धारण कर लेते हैं।

उपसंहार

वास्तविकता एक प्रवाहमय स्थिति है। वह सदैव परिवर्तित होती रहती है। वह तीव्र उत्कटता की उपज है जिसकी व्याख्या विचार अथवा कल्पना के माध्यम से व्यक्त होती है। परन्तु उत्कटता विचार के द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। वह केवल स्पष्ट प्रत्यक्ष बोध से ही आती है। विचार अथवा कामना के द्वारा जो अभियान किया जायेगा वह तीव्रता नहीं, वह होगा संघर्ष का बल या उसकी शक्ति। अतः प्रत्यक्ष बोध सच्ची तीव्रता का भण्डार है। वही उसका जलाशय है। प्रत्येक प्रत्यक्ष बोध को पूरे तौर से जीना है,जिससे वह उसे सच्ची वास्तविकता से रूपान्तरित कर सके। जब प्रत्यक्ष बोध को जिया नहीं जाता तो वह एक बौद्धिक निरूपण बन जाता है और चेतना में सामान्य संशोधन कर देता है जो प्रत्यक्ष ज्ञान की चेतन अनुभूति होती है। अतः मन वास्तविकता के दूसरे स्तर की सम्भावना के लिए खुले, उसके सहज पहले वास्तविकता के प्रत्येक स्तर को पूरे तौर से जीना है। पूर्ण रूप से रूपांतरित चेतना मे ऐसी नमनशीलता, ऐसी लचक होती है जो बहुत जल्दी वास्तविकता के एक स्तर से दूसरे स्तर में चली जाती है, ताकि बाहर की प्रतिबद्धता वास्तविकता से उसका सम्बन्ध हो अथवा उसका रूपान्तरण हो सके। जब मन सामाजिक चुनौती के साथ सम्बन्धित हो सकता है और उससे पूर्णतः अनुक्रिया कर सकता है केवल तभी यह कहा जा सकेगा कि समग्र रूपान्तरण की नींव पड़ गई।

बौद्धिक स्तर पर रूपान्तरण का घटना कालातीत होता है, परन्तु जब रूपान्तरण की शक्ति भावनात्मक या मनोवैज्ञानिक और भौतिक स्तर पर कार्य करती है, तो ऐसा लगता है कि एक प्रक्रिया आरम्भ हो गई है। यह प्रक्रिया लम्बी दीर्घकाल-व्यापी भी हो सकती है, अल्पकाल-व्यापी भी। यह मन की और तन की मनोवैज्ञानिक और शारीरिक ग्रहणशीलता और उसके खुलेपन पर निर्भर करती है। लेकिन यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि इस प्रक्रिया को स्निग्ध गति से निर्बाध रूप में, तीव्र गति से चलाने के लिए मनोवैज्ञानिक काल को पूर्णतः समाप्त हो जाना पड़ेगा। मन को—जो अब परिवर्तित होता चल रहा है—शाश्वत क्षण में निवास करना होगा और लक्ष्य के सम्बन्ध में भावी कल्पनाओं और आदर्शों के सम्बन्ध में खड़े किये गये सभी प्रक्षेपणों का उन्मूलन कर डालना होगा जिससे मानस में और शरीर में उस कालातीत शक्ति की पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति हो सके।

यह प्रक्रिया ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है त्यों-त्यों मन में नई योग्यताएं और क्षमताएं

व्यक्त होती हैं और शरीर उत्तरोत्तर रोग-बीमारी, असामंजस्य क्षरण और जराग्रस्तता से मुक्त होता चलता है। शरीर और मस्तिष्क की प्रत्येक कोश अतिजीवन के लिए सतत् प्रयत्नशील है। अतिजीवन की यह प्रेरणा, उत्सुकता जिसके लिए मनोवैज्ञानिक और भौतिक सुरक्षा की आवश्यकता है—अमरता की एक अभिव्यक्ति है। जब मानस मेरे और तेरे के भेद से, व्यक्ति और अपने चारों ओर घिरे विश्व के भेद से ऊपर उठ जाता है तब वह मनोवैज्ञानिक आघात से परे चला जाता है। मानस में ईर्ष्या, विद्वेष, प्रतिद्वंद्विता और हिंसा के रूप में प्रकट होने वाले संघर्ष ही मनोवैज्ञानिक आघात के आधार हैं। मानस जब संघर्ष से मुक्त हो जाता है तो शरीर में एक सम्पूर्णता प्रतिबिम्बित होने लगती है। तब धीरे-धीरे शरीर की वह स्थिति हो जाती है जब उसे न तो कोई आघात लग सकता है न उसे कोई बीमारी हो सकती है और न वह अशक्त हो सकता है। बुढ़ापा आने की गति धीमी हो जाने अथवा रुक जाने के कारण शरीर में कालातीतता प्रतिबिम्बित होने लगती है। तब शरीर अनिश्चित काल तक, अति दीर्घ काल तक टिक सकता है अथवा शरीर में नये उत्परिवर्तन, नये उद्भेदन प्रकट हो सकते हैं।

मनुष्य तकनीकी दृष्टि से प्रतिरोपण तथा ऐसे ही अन्य जैव-चिकित्सा के साधनों द्वारा बीमारी और वृद्धावस्था पर विजय प्राप्त करने के प्रयत्नों में संलग्न है। वह ऐसे युग की तलाश में है जिसमें निकट भविष्य में शरीर लगभग अमर जैसा बन जायेगा। अस्तु, तकनीक के माध्यम द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति में कृत्रिम साधनों के समर्थन और जीवनपोषण पर निर्भरता समाप्त नहीं होती। और इसलिए यह निर्भरता और ऊब अथवा बोरियत का भय मिलकर अमरता को एक हास्यास्पद वस्तु बना देगा। यह तथा-कथित अमरता, प्लास्टिक की अमरता की सजातीय होगी जो कि केवल यांत्रिक अस्तित्व वाली वस्तु है। परन्तु जब चेतना के रूपान्तरण द्वारा परिवर्तन लाया जाता है तो अमरता की पहली अभिव्यक्ति मानस में पहले होती है, फिर शरीर में होती है। तभी और केवल तभी मानवीय व्यक्तित्व के समग्र रूपान्तरण सच्ची अमरता का दर्शन होता है। तब अमरता से केवल शरीर का ही अतिजीवन नहीं होता, उससे नवीन मानव प्राणी तथा नई समाज-व्यवस्था का उद्भव भी होता है।

सत्य कालातीत और अटल है। जबकि वास्तविकता या यथार्थता देश और काल से बद्ध है जो कि विचार और कल्पना से निर्मित, पोषित तथा संशोधित होती है। जब तकनीक के माध्यम द्वारा विचार से वास्तविकता की रचना की जाती है तो ऐसी वास्त-विकता में विचार की सीमाएं, कमियां और मर्यादायें परिलक्षित होती हैं। जब रूपान्त-रित चेतना प्रज्ञा के माध्यम द्वारा वास्तविकता की रचना करती है, यद्यपि इस स्थिति में विचार को एक यंत्र अथवा साधन बनाया जाता है तो भी उसके परिणामस्वरूप जो वास्तविकता जन्म लेती है उसमें वह सीमा और अव्यवस्था नहीं रहती जो विचार निर्मित वास्तविकता में सर्वसामान्य होती है। अतः रूपान्तरित चेतना क्रियाशील वास्तविकता के कई स्तर बनाती है जो उसकी अभिव्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुरूप होते हैं। ऐसा मानस वास्तविकता का निर्माता होता है, उसका दास या गुलाम नहीं होता।

हम सब लोग विचार और कल्पना के द्वारा वास्तविकता की रचना करने वाले

हैं परन्तु जब हम उसी की रचना करते हैं तो वह वास्तविकता भय और चिन्ता से भरपूर रहती है और वह हमें गुलाम बना देती है। जब रूपान्तरित मानस प्रज्ञा के माध्यम द्वारा वास्तविकता की रचना करता है तो यह शुद्ध वास्तविकता भय से सर्वथा मुक्त रहती है और वह गुलामी की दिशा में नहीं ले जाती। तब ऐसी वास्तविकता केवल क्रियाशील होती है और जब आवश्यकता नहीं रहती तब रूपान्तरित मानस द्वारा वह विघटित कर दी जाती है। इस प्रकार वास्तविकता में जीते हुए भी मन मुक्त बना रहता है।

अत: मुक्त मानस वास्तविकता से विलग नहीं रहता। वह उससे जान बचाकर भी नहीं भागता। वह उसका रूपान्तरण करता है और आवश्यकता प्रतीत होने पर उसमें कुछ योगदान भी करता है। इस शुद्ध वास्तविकता की रचना-शक्ति के अभाव में, मुक्ति मोक्ष केवल बौद्धिक है, निस्सार है, अर्थहीन है। परन्तु यह वास्तविकता की रचना करने वाली मुक्ति अमर रचना शक्ति अहं की भस्म के भीतर से ही प्रकट होती है। जो मानस अब भी पसंदगियों और वरीयताओं से अव्यवस्थित अथवा बौखलाया रहता है, जो सारे ब्रह्माण्ड के साथ पूर्णत: एकाकार नहीं होता, वह इस चोटी को स्पर्श नहीं कर पाता। सारी रुचियों के समाप्त होने पर ही मन इस चोटी की अपनी यात्रा का श्रीगणेश कर सकता है जो कि दिक् और काल से परे है। यह सर्वोच्च बलिदान है जो सत्य की वेदी के समक्ष अहं को करना पड़ेगा जिससे सच्चे व्यक्तित्व का उद्‌भव हो सके।



स्वस्थ तथा स्तरीय पुस्तकों के

पाठकों के लिए



विकास
पेपरबैक्स

प्रस्तुत कर रहा है बहुत ही

कम मूल्य में प्रतिष्ठित लेखकों

की नई एवं रुचिकर रचनाएं

प्रकाशक एवं वितरक

विकास पेपर बैक्स

IX/221 मेन रोड, गांधीनगर, दिल्ली-110031